पं. गणपति शर्मा पुण्यतिथि (२७ जून) के अवसर पर विशेष

शास्त्रार्थ

वृक्षों में 'अभिमानी जीव' है या नहीं

वृक्षों में स्वाभिमानी जीव की उपस्थिति का विचार प्राचीनकाल से ही विवेचना का विषय रहा है। आर्यसमाज के दो मूर्धन्य विद्वानों का इस विषय में शास्त्रार्थ न केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से अपितु इतिहास की दृष्टि से भी संकलन के योग्य है। तहरीर और तकरीर के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए परोपकारी के अद्यतन अंक में इस शास्त्रार्थ को स्थान दिया गया है। शास्त्रार्थ से पहले शास्त्रार्थ के अध्यक्ष पं. पद्मसिंह शर्मा का सम्पादकीय लेख भी इसके साथ प्रकाशित कर रहे हैं। इस शास्त्रार्थ में आर्यजगत् के दो मूर्धन्य विद्वान् आमने-सामने थे। एक ओर उद्भट वाग्मी स्वामी दर्शनानन्द जी और दूसरी ओर प्रतिवादी भयंकर पं. गणपति शर्मा जी। पं. गणपति शर्मा को 'प्रतिवादी भयंकर' इसलिये कहा जाता था, क्योंकि उनके सामने आते ही प्रतिवादी भय से आक्रान्त हो जाया करते थे। दो दिग्गज आमने-सामने और अध्यक्ष हैं साहित्य शिरोमणि पं. पद्मसिंह शर्मा। वेद-शास्त्रों के सागर को अपनी ऊहा की मथनी से मथकर सिद्धान्तरूपी अमृत को प्राप्त करने के लिये दो शास्त्रमहारथी शास्त्रार्थ-समर में उतर गये। इस शास्त्रार्थ से निकले अमृत से आज का आर्यजगत् वंचित न रह जाये, इसी लालसा से परोपकारी के पाठकों को सादर समर्पित। - सम्पादक

स्थावर में जीव-विषयक विचार

श्री पं. गणपति शर्मा जी का यह अन्तिम और अपूर्व शास्त्रार्थ जिन महाशयों ने स्वयं सुना था, वे तो अब तक उस समय को याद करके सिर धुन रहे हैं और यह सोचकर कि अब ऐसा अवसर फिर इस जन्म में नहीं मिलेगा, अपने को धन्य समझ रहे हैं कि सौभाग्य से ही यह सुयोग हमें प्राप्त हो गया, जबकि आर्यसमाज के दो अप्रतिम-तार्किक, निरुपम-वक्ता, अद्वितीय-शास्त्रार्थकर्त्ता, अलौकिक-प्रतिभाशाली और अपने विषय के अपूर्व-विद्वान् तथा प्रतिवादि-भयंकर वाग्भट उपदेशक प्रवरों के संवाद-समर देखने और श्रवणसुधावर्षी वाग्विलास सुनने का अलभ्य लाभ मिल गया।

आहा! सचमुच ही वह कैसा विचित्र समय और पवित्र अवसर था। महाविद्यालय की सुरम्य भूमि के समीप विशाल बाग में कुदरती शामियाने के नीचे हजारों मनुष्यों का समाज जुटा है, एक ओर पीतवस्त्रधारी ब्रह्मचारी समूह पंक्ति बाँधे शान्तभाव से, पर उत्कर्ण हुआ, अपने आसन पर आसीन है, दूसरी ओर गैरिक रागरञ्जित-वेष-विभूषित, पर वैराग सम्पन्न अनेक सम्प्रदायों के साधु-महात्माजन-जिन जीवन्मुक्तायमानों को विवादसमर-दिदृक्षा और शास्त्रार्थ-शुश्रूषा खींच लाई है, आसन मारे विराजमान हैं। शेष श्रोतृमण्डल फर्श पर परा बांधे डटा हुआ है, कोई नोट लेने के लिये चाकू निकाले पेन्सिल गढ़ रहा है, कोई कागज के दस्ते सम्भाल रहा है, कोई पॉकेट -बुक के पन्ने पलट रहा है, कोई किसी से कागज-पैन्सिल माँग रहा है, कोई बार-बार घड़ी निकालकर देख रहा है। कोई वक्त पूछ रहा है। शास्त्रार्थ शुरू होने में अभी कुछ देर है, पर श्रोता अभी से उतावले-बेसब्रे हो रहे हैं, उन्हें एक-एक मिनट भारी हो रहा है, बैठे-बैठे गर्दन उठा-उठाकर देख रहे हैं कि पण्डित जी और स्वामी जी आते तो नहीं।

निदान जिस घड़ी का इन्तजार था वह आई और सुनने वालों की दिली कशिश, इन्तजार के बढ़े हुए तार में खींचकर वाग्भट-वीरों की जुगल जोड़ी को सभामण्डल में ले ही आई।

ठीक निर्दिष्ट समय पर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ और जिस प्रकार हुआ, वह आगे देखिये, परन्तु प्रिय पाठक! इन शब्दों में वह अलौकिक आनन्द कहाँ है जो उस समय वक्ताओं के धाराप्रवाह मधुर भाषणों से टपक रहा था। यह समझिए कि सुधारस-निष्पन्दी, भाषण-नद, बड़े प्रबल वेग से बह रहा था, जिसमें गोते खाते हुए श्रोतृजन भी साथ बहे जा रहे थे। कई महाशय जो उस समृद्ध वेग नद को कागज पेन्सिल के छोटे-छोटे पात्रों में भरना चाहते थे,

देखते रह गये, क्योंकि दरिया को कूजे में बन्द करना हर एक का काम नहीं है।

हमारे मित्र पण्डित रलारामजी 'ब्रह्म' की लेखन-पटुता और आशु-ग्राहिता प्रशंसनीय है कि उन्होंने उस प्रबल प्रवाह में से इन ढले हुए मोतियों को रोलकर इकट्ठा कर लिया और उनसे यह सुन्दर कण्ठा बनाकर प्रस्तुत कर दिया, जो प्रिय पाठकों के कमनीय-कण्ठ में सादर समर्पित है।

इस शास्त्रार्थ-मौक्तिकमाला-निर्माण का सारा श्रेय पण्डित रलारामजी को ही है, इसके लिये पाठकों को उनका ही कृतज्ञ होना चाहिए।

'भारतोदय' अपने पण्डित जी की इस अन्तिम यादगार को सुरक्षित दशा में सर्वसाधारण के सन्मुख रखकर बड़ा हर्ष अनुभव कर रहा है।

शास्त्रार्थ पाण्डुलिपि नोटों के आधार पर, पण्डितजी के सामने ही प्रस्तुत हो चुकी थी। जब अन्तिम बार वह पंजाब जा रहे थे, निवेदन किया था कि महाराज! इसे सुनकर तसदीक कर दीजिए, कुछ भाग सुना और कहा कि अबकी बार आकर सब सुनेंगे, पर अफसोस ऐसे गये कि अब तक न लौटे।

विचार था कि वादी-प्रतिवादी, दोनों महोदयों को एक बार सुनाकर 'शास्त्रार्थ' प्रकाशित किया जाय, किन्तु दुःख है कि दुर्दैव ने यह इरादा पूरा न होने दिया। ईश्वर की कृपा है कि 'प्रतिवादी' अभी मौजूद हैं, पर हाय 'वादी' को कहाँ से लायें? अब तो यह कहने का मौका भी नहीं रहा-

लोग कुछ पूछने को आये हैं, अहले-मय्यत जनाज़ा ठहरायें।

ओह! संसार भी कैसा संसरणशाली और परिवर्तनशील है। कुछ ठिकाना है। यारो, कल की बात है कि हम तुम सब अपूर्व शास्त्रार्थ-नद के प्रवाह में गोते लगा रहे थे, वाद-प्रतिवाद की जबरदस्त लहरें, कभी इस किनारे और कभी उस किनारे उठाकर पटक रही थीं, किसी एक तट पर जमकर बैठना थोड़ी देर के लिये भी मुश्किल था, पर जिस ओर जाते, अपूर्व आनन्द पाते थे और यही चाहते थे कि इस प्रकार हर्ष-पयोधि में हिलोरे लेते रहें।

आहा, वह समय अब तक आँखों में फिर रहा है, वक्ताओं की वह स्निग्ध-गम्भीर ध्वनि कानों में गूँज रही है, वह दिव्य-दृश्य हृदय पर अबलों अंकित हैं, जिसे स्मृति की आँखें अच्छी तरह देख रही हैं, पर देखो तो कुछ भी नहीं।

ख्वाब था, जो कुछ कि देखा, जो सुना अफसाना था।

प्रत्यक्ष, परोक्ष और वर्तमान, अतीत हो गया, साक्षात् अनुभव का विषय स्मृतिशेष रह गया, जिसे आँखों से देख और कानों से सुन रहे थे, वह सिर्फ सोचने और याद करने के लायक रह गया। आह ऐसा समय क्या कभी इस जन्म में फिर देखने को मिलेगा? उस शान्त पावनमूर्ति के फिर भी दर्शन हो सकेंगे? इन कानों से वे विचित्र बातें फिर सुन सकेंगे? किसी ने सच कहा है-

मनुष्य अपने चित्तपट पर नाना भाव और अनेक विचाररूपी रंगों से मनोरथ-चित्र बनाकर तैयार करता है और विधि एक नादान बच्चे की तरह हाथ फेरकर उसे मेट देता है।

मेरे मन कुछ और है, कर्त्ता के मन और।

आगामी वर्ष के लिये जिन-जिन महोदयों के साथ, जिस-जिस विषय पर, शास्त्रार्थ और संवाद करने का प्रोग्राम पण्डित जी बना रहे थे, वह यों ही रह गया। सुनने वालों के दिल की दिल ही में रह गई, अफसोस!

यह आरज़ू थी, तुझे गुल के रू-बरू करते,
हम और बुलबुल बेताब गुफ्तगू करते।

होने को अब भी सब कुछ होगा, उत्सव होगा, व्याख्यान होंगे और शास्त्रार्थ भी होगा, सभा जुटेगी, श्रोता आवेंगे, कहने वाले कहेंगे, सुनने वाले सुनेंगे, वक्ता की वाणी से निकले हुए शब्द श्रोताओं के इस कान से उसमें होकर निकल जायेंगे, 'पल्ला-झाड़' कथा सुनकर उठ खड़े होंगे-

कहने सुनने की गर्म-बाज़ारी है,
मुश्किल है मगर असर पराये दिल में।
ऐसा सुनिये कि कहने वाला उभरे,
ऐसी कहिये कि बैठ जाए दिल में।।

दिल में बैठने वाली बात कहने वाला मिलना मुश्किल है। अनेक शास्त्रार्थ देखे, बहुतेरी वक्तृताएँ सुनीं, पर ऐसा प्रतिभाशाली ऊहवान् और मधुरभाषी, शास्त्रीय विषयों का सुवक्ता, विचित्र व्याख्याता हमारे देखने में तो आया नहीं, आगे आशा भी नहीं है-

मानो न अलीक भूमिकम्प ही से काँपता है,

विद्युदादि-वेगों से पहाड़ हिलता नहीं।
भानु का प्रकाश भव्यकारण विकास का है,
तारों की चमक पाय-'पद्म' खिलता नहीं।
शंकर रबीली कड़ी रेती रेत डालती है,
क्षुद्र छुरी छेनियों से हीरा छिलता नहीं।
हाय गणपति की अनूठी वक्तृता के बिना,
अन्य उपदेश सुने स्वाद मिलता नहीं।
- पं. पद्मसिंह शर्मा (सम्पादक-भारतोदय)

शास्त्रार्थ

विषय : स्थावर में जीव विषयक निर्णय

दिनांक: ८ अप्रैल सन् १९१२ ई. (सुबह १० बजे)

स्थान: ज्वालापुर (महाविद्यालय) हरिद्वार (उ.प्र.)

वृक्षों में जीव मानने वाले- **प्रतिवादी भयंकर पं. गणपति शर्मा जी 'तार्किक शिरोमणि'**

वृक्षों में जीव न मानने वाले- **वाग्मिप्रवर स्वामी दर्शनानन्द जी** (जो पहले श्री पं. कृपाराम जी शर्मा 'जगरानवी' के नाम से प्रसिद्ध थे)

शास्त्रार्थ के अध्यक्ष- **साहित्य महारथी पं. पद्मसिंह जी शर्मा** (सम्पादक- भारतोदय)

शास्त्रार्थ लेखक: **पं. रलाराम जी**

श्री पंडित गणपति शर्मा जी

ओ३म् तत्सद् ब्रह्मणे नमः

अब आज, इस बात पर विचार होगा कि वृक्षों में 'अभिमानी जीव' है या नहीं, मेरा मत यह है कि वृक्षों में 'अभिमानी जीव' है। सबसे पहले मैं इस विषय में वेद का प्रमाण देता हूँ क्योंकि हम लोग आस्तिक हैं और आस्तिकों के लिए 'वेद' सबसे बढ़कर प्रमाण है। अतः वेद का प्रमाण पेश करता हूँ। 'अथर्ववेद' के प्रथम कांड के अनुवाक ६, सूक्त ३२, मन्त्र १ में देखो-

इदं जनासो विदथ महद्ब्रह्म वदिष्यति।
न तत्पृथिव्यां नो दिवि 'येन प्राणन्ति वीरुधः।

इस मन्त्र में "**येन प्राणन्ति वीरुधः**" का अर्थ है कि "जिससे (वीरुधः) लताएं-बेलें जीव को धारण करती हैं" इससे यह पाया जाता है कि वृक्षों में 'जीव' है, क्योंकि लताएं वृक्ष-जात्यन्तर्गत हैं।" **दूसरा प्रमाण-**

"**जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्**"

(अथर्ववेद-कांड ८ अनु. ४, सूक्त ७, मन्त्र ६)

यहाँ "**जीवन्तीमोषधीमहम्**" "जीती हुई औषधि को" इस प्रकार लिखा है, औषधि का 'जीना' बिना जीव के नहीं हो सकता। अब इन दो वेद मन्त्रों के प्रमाण के पश्चात् '**छान्दोग्योपनिषत्**' का प्रमाण पेश करता हूँ-

"**अस्य सोम्य! महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो ऽग्रे ऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत् स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति।।१।। अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति** द्वितीयां **जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति एवमेव खलु सोम्य! विद्धीति होवाच।। २।। जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति...।।**"

इसका अर्थ- हे सोम्य! इस बड़े भारी वृक्ष को यदि मूल से काटें तो जीता हुआ स्रवण करता है। (रस-दूध आदि के टपकने से तात्पर्य है), यदि मध्य भाग को काटा जाय तो जीता हुआ स्रवण (टपकता है) करता है। यदि अग्रभाग (टहनी आदि) में काटा जाय तो जीता हुआ स्रवण करता है। इस रस आदि के टपकने से यह प्रतीत होता है कि यह वृक्ष जीवात्मा से (अनुप्रभूतः) व्याप्त या अधिष्ठित हुआ (पेपीयमानः) जल को तथा पृथिवी के रसों को अत्यर्थ (बहुत) पीता हुआ लहलहाता रहता है और जब 'जीव' इस (वृक्ष) की एक शाखा को छोड़ता है तब वह सूख जाती है, जब दूसरी को छोड़ता है तो वह भी सूख जाती है, जब तीसरी को छोड़ता है तो तीसरी सूख जाती है, यदि सारे पेड़ को छोड़ जाता है तो सारा पेड़ सूख जाता है। हे सोम्य! इस प्रकार (जैसे कि, पेड़ जीव से युक्त होकर रस आदि को भूमि में से जड़ों द्वारा पी-पीकर हरा-भरा रहता है और जीव के अलग हो जाने से सूख जाता है) यह (हमारा) शरीर, जीव से रहित हुआ निश्चयपूर्वक मर जाता है, पर जीव नहीं मरता...इत्यादि।। इससे यह निश्चय आया कि 'वृक्षों में जीव है'। यह तीन श्रुति के प्रमाण हुए,

अब स्मृति का प्रमाण देता हूँ, देखो! 'मनुस्मृति' अध्याय एक, श्लोक ४१ से ५० तक-

एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः।
यथाकर्म्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजंगमम्।।४१।।

एवमेतैरिति-एवमित्युक्तप्रकारेण एतैर्मरीच्यादिभिरिदं सर्वं स्थावरजंगमम् सृष्टम्। यथाकर्म यस्य जन्तोर्यादृशं कर्म तदनुरूपम् इत्यादि...

भावार्थ- 'इस प्रकार मरीचि आदि ने सब 'स्थावर' (वृक्ष लता आदि 'जंगम्' (पशु पक्षी आदि) संसार बनाया, यह नहीं कि यों ही अंट-संट बनाया, किन्तु (यथाकर्म) जिस जन्तु (जीव) का जैसा कर्म था, कर्म के अनुसार उसको तत्तद्योनि में पैदा किया...इत्यादि)।'

इससे यही सिद्ध होता है कि जन्तु अपने कर्मों के अनुसार जंगम और स्थावर रूप सभी योनियों में जन्म लेता है, रहता है तथा मरता है।

येषां त यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम्।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि।।४२।।

इस श्लोक में यह प्रतिज्ञा करके कि प्राणी किस-किस योनि में किस-किस कर्म के अनुसार कैसा जन्म लेता है, वह आगे कहता हूँ। मनु महाराज कहते हैं-

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः।।४३।।
अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च।।४४।।
स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किञ्चिदीदृशम्।।४५।।

ऊपर लिखे इन-तीनों श्लोकों में 'जरायुज', अण्डज और स्वेदजों की उत्पत्ति बताकर -

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः।।४६।।
अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः। पुष्पिणः
फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः।।४७।।
गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च।।४८।।

इन तीनों श्लोकों में नाना प्रकार के वृक्षों, बेलों तथा वनस्पतियों की उत्पत्ति का वर्णन किया है अर्थात् इन योनियों में भी गुण कर्मानुसार जीव जन्म लेता है, तदनन्तर यह शंका उत्पन्न होने पर कि ''यदि जीव इनमें जन्म लेता है तो चेतनता की प्रतीति हमें क्यों नहीं होती''? मनु महाराज उत्तर देते हैं-

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः।।४९।।

इसका अर्थ श्रीमत्कुल्लूक भट्ट करते हैं कि- 'ये वृक्ष लता आदि तमोगुण से व्याप्त और सुख-दुःख से युक्त होकर 'अन्तःसंज्ञ' अर्थात् अन्तश्चैतन्य होते हैं और यह तमोगुण उनके अधर्म कर्मों (धर्म-विरुद्ध कर्मों) से उत्पन्न होता है और नाना दुःखरूप फलों का देने वाला होता है। यद्यपि सब शरीरधारी अन्तश्चैतन्य ही होते हैं अर्थात् शरीर के अन्दर ही ज्ञान का अनुभव करते हैं तो भी वृक्ष आदि को हमारे समान बाहर की ओर व्यापार आदि काम न करने से 'अन्तःसंज्ञ' कहा जाता है। यद्यपि **'वृक्षाभिमानी जीव'** भी 'सत्' 'रज' 'तमः' इन तीनों गुणों से युक्त होता है तथापि तमोगुण की अधिकता के कारण तमोगुण से व्याप्त माना जाता है, इसीलिए सुख और दुःख दोनों को ही अनुभव करता है, क्योंकि मेघों से बरसे हुए जल के स्पर्श से (वृक्षों को) सुख भी अवश्य होता है (ऐसा सभी को प्रतीत होता है)। इसी प्रकार'-

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः।
घोरेऽस्मिन् भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि।।५०।।

अर्थ-''ब्रह्मा से लेकर स्थावर (वृक्ष आदि) पर्यन्त यह सब जीव की उत्पत्ति के स्थान हैं इत्यादि''। इस प्रकरण से यह बात सुस्पष्ट है कि मनु महाराज भी 'वृक्ष में जीव' का होना मानते हैं, तथा यह श्रुति के अनुकूल होने से मान्य है।

इस प्रकार दो 'श्रुति' के, एक 'छान्दोग्योपनिषद्' का प्रमाण, तथा यह 'मनुस्मृति' का प्रकरण, इस बात को सिद्ध करते हैं कि 'वृक्षों में जीव है।'

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी

जो दो मन्त्र 'अथर्ववेद' में प्रमाण रूप में पेश किए गये हैं-उनका अर्थ ठीक नहीं, जो अर्थ पंडित जी ने किया है वह पं. भीमसेन का किया हुआ है। अतः स्वीकार नहीं हो सकता। मैं श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का अर्थ

सुनाता हूँ-**दो प्रकार की हरकत गति होती है-'हरक़ते-इरादी' और 'हरक़ते-इन्तज़ामी' अर्थात् 'विशेषगति' और 'सामान्यगति'। इसलिए 'येन प्राणन्ति वीरुधः' में जिस परमात्मा की शक्ति से लताएँ प्राण धारण करती हैं, ऐसा अर्थ है। संसार के सूर्य, चाँद आदि सब पदार्थ परमात्मा की 'सामान्यगति' (हरक़ते-इन्तज़ामी) से हरकत करते हैं न कि उनमें कोई अभिमानी जीव है, जिस (जीव) की 'हरक़ते इरादी' से कि वे घूमते हों तथा लताएँ प्राण धारण करती हों।** जैसे एक मनुष्य के शरीर में जो गति (हरक़त) पाई जाती है यह 'हरक़ते इरादी' कहलाती है, क्योंकि पुरुष उसे अपने इरादे (इच्छा) से करता है। मनुष्य के शरीर में जो खून की हरकत है वह 'हरकते-इन्तज़ामी' है, क्योंकि परमात्मा के प्रबन्ध से लहू की गति होती है, या जो मनुष्य की बनाई घड़ी में हरकत है वह 'हरक़ते-इन्तज़ामी' है-इसी प्रकार लताओं में 'प्राण धारण'-रूप-गति (हरक़त) परमात्मा की 'हरक़ते-इन्तज़ामी' (सामान्यगति) से अभिप्रेत है- इसी प्रकार 'जीवन्तीम् ओषधीम्' इस मन्त्र में भी सामान्य जीवन से तात्पर्य है। अतएव वेद-विरुद्ध स्मृति भी अप्रमाण है। वृक्षों में 'जीव' के होने के विरुद्ध में भी स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का प्रमाण देता हूँ-देखो-तीसरी बार की छपी '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**'-पुरुषसूक्त, मन्त्र ४, पृष्ठ १२२

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि।।

-यजु. ३१-४

इस मन्त्र के **साशनानशन** पद का अर्थ लिखते हैं कि -**(ततोविश्व.) ततस्तत्सामर्थ्यात् सर्वमिदं विश्वमुत्पद्यते किञ्च तत्? (साशनानशने.) यदेकमशनेन, भोजनकरणेन सह वर्त्तमानं जंगमं जीवचेतनादिसहितं जगत् द्वितीयमनशनमविद्यमानमशनं भोजनं यस्मिंस्तत् पृथिव्यादिकं च यज्जड़ं जीवसंबन्धरहितं जगद्वर्त्तते यदुभयं तस्मादित्यादि।**

अर्थात् ''उस परमात्मा के सामर्थ्य से यह सब संसार उत्पन्न होता है। कौन-कौन सा? एक वह जो भोजन करता है- जिसे 'जंगम' जीव-चेतना आदि से युक्त जगत् कहते हैं और दूसरा वह जो भोजन नहीं करता, जैसे 'पृथिव्यादि' जड़ जो कि जीव के संबन्ध से रहित जगत् है- यह दोनों प्रकार का जगत् पुरुष (परमात्मा) के सामर्थ्य कारण से उत्पन्न होता है''।

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज इस '**अनशन**' शब्द के भाष्य में 'जीव-सम्बन्ध रहितं पृथिव्यादिकं जड़म्' लिखते हैं अर्थात् जीव के सम्बन्ध से जो रहित हो वह 'जड़' कहलाता है और वह पृथिव्यादिक है- सो 'पृथिव्यादि' पद में 'आदि' पद से **पृथिवी के कार्य 'वृक्ष' आदि भी पृथिवी के अन्तर्गत होने से जीव से रहित हैं, क्योंकि पृथिवी जीव से रहित है** अतएव जड़ है। तथा 'वेद' में भी 'जीव' का अभाव 'वृक्षों' में पाया जाता है। देखो-

यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पतिर्यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत्।
इन्द्रो यो दस्यूँरधराँ अवातिरन्मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे।।५।।

ऋग्वेद, मं. १, अष्टक १, अध्याय ७, वर्ग १२।।

इस मन्त्र में '**जगतः प्राणतः**' ऐसा लिखा है, अर्थात् 'जो परमात्मा प्राण धारण करने वाले समस्त जगत् का या (विश्वस्यजगतः) गतिशील संसार का पति हैं।'

'जगत्' को 'प्राण धारण करने वाला' विशेषण देना यह सिद्ध करता है कि जो गतिमान् नहीं है, वह प्राण धारण भी नहीं करता, या जो प्राण धारण करता है वह गतिमान् है। सो 'वृक्ष' गतिमान् नहीं है, अतएव 'प्राणी' भी नहीं है और सजीव भी नहीं है।

श्री पंडित गणपति शर्मा जी

'**येन प्राणन्ति वीरुधः**' में सामान्यगति (हरक़ते-इन्तज़ामी) का कोई जिकर तक नहीं, स्वामी जी को कोई कारण बताना चाहिए कि मुख्यार्थ अर्थात् '**विशेष- प्राणन्**' को छोड़कर क्यों '**गौण-प्राणन्**' का आश्रय किया जाय? इसी प्रकार '**ओषधि**' के लिए भी जो '**जीवन्तीम्**' विशेषण आया है, वहाँ भी सामान्यगति (हरक़ते-इन्तज़ामी) का प्रकरण नहीं है। वह अर्थ पं. भीमसेन जी का पेटेन्ट नहीं है। जब तक उस अर्थ में कोई दोष न दिखाया जाय, वह मान्य है। तथा जो '**साशनानशने**' पद के भाष्य में से '**पृथिव्यादि**' पद के अन्तर्वर्त्ती 'आदि' पद से 'वृक्ष लता' आदि का ग्रहण आप करते हैं, वह ठीक नहीं है, वहाँ 'आदि' पद से 'जल, वायु' आदि का ग्रहण होता है-यदि

ऐसा ग्रहण न कर आप 'वृक्ष' आदि अर्थ लेने लगेंगे तो श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के लेख में पूर्वापर विरोध हो जायेगा, क्योंकि वह वृक्षों में जीव को मानते हैं। देखो सत्यार्थ प्रकाश-नवीं बार का छपा हुआ, पृष्ठ २३५

''**प्रश्न**-ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म, किन्हीं को सिंह आदि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण, गाय आदि पशु, किन्हीं को '**वृक्षादि**' कृमि कीट पतंगादि जन्म दिये हैं'', इत्यादि।

यहाँ स्पष्टतया '**वृक्ष आदि**' का जन्म स्वीकार करते हैं, इससे यह पाया जाता है कि परमात्मा जीवों को, उनके कर्मानुसार वृक्ष आदि योनियों में भी जन्म देता है। अत: यहाँ (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में) 'आदि' पद से 'वृक्ष' आदि का ग्रहण नहीं करना चाहिए- अन्यथा श्री स्वामी जी के लेख में पूर्वापर विरोध होगा तथा जिस प्रकार आप बिना किसी कारण या प्रकरण के, मेरे प्रमाणरूपेणोपन्यस्त वेदमन्त्रों में प्रधान अर्थ को छोड़कर, और (सामान्य प्राणन्) 'हरक़ते इन्तज़ामी' का अवलम्बन कर, 'गौण' अर्थ को स्वीकार करते हैं, इसी प्रकार मैं भी आपके प्रमाणरूप '**साशनानशने**' पद की व्याख्या में '**पृथिव्यादि**' पद से लिए गये 'वृक्षादि' पदार्थों की जड़ता को यदि 'गौण' कहकर टाल दूँ तो आप क्या कहेंगे? अन्यथा बताइये कि क्यों नहीं 'वृक्ष' आदि की गौण जड़ता मानी जाय? क्योंकि 'जड़' शब्द का प्रयोग 'चेतन' और 'अचेतन' दोनों के लिए पाया जाता है। देखो! श्री भर्तृहरि जी क्या कहते हैं- **जाड्यं धियो हरति...**कि 'सत्संग' बुद्धि की जड़ता को हरता है-'बुद्धि की जड़ता कैसी? श्री गौतम महाराज कहते हैं कि- **बुद्धिरुपलब्धिज्ञानमित्यनर्थान्तरम्**- बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान ये एक ही पदार्थ के नाम हैं। फिर श्री भर्तृहरि जी 'बुद्धि की जड़ता' कैसे कहते हैं? 'ज्ञान की जड़ता'! 'प्रकाश का अंधेरा'! यह परस्पर विरुद्ध धर्म क्योंकर सम्बन्धी हो गये? इससे यही पाया जाता है कि 'जड़ शब्द का प्रयोग चेतन और अचेतन दोनों के लिए आता है', अत: श्री भर्तृहरि जी के वाक्य में 'बुद्धि की जड़ता' से अभिप्राय 'मात्य कुण्ठता' से है और यहाँ आपके मतानुसार 'पृथिव्यादि' पद के 'आदि' पद से गृहीत जो 'वृक्ष' आदि पदार्थ हैं, 'उनकी जड़ता का अभिप्राय जीवाभाव नहीं, किन्तु बाह्यज्ञानाभाव है' (क्योंकि वृक्ष 'अन्त:संज्ञ' होते हैं), यदि ऐसा अर्थ-प्रकरण आदि की अपेक्षा न कर, किया जाय तो क्या वह आपको अभीष्ट होगा? यदि नहीं तो, फिर मेरे पक्ष में, 'सामान्य' =गौण अर्थ हो और आपके पक्ष में प्रधान, यह कहाँ का न्याय है? इस 'अर्द्धजरतीय न्याय' का अवलम्बन क्यों किया जाय?

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी-

'Soul' = आत्मा और 'Life' =प्राण में भेद है। मनुष्य में Soul आत्मा और Life प्राण दोनों हैं, वृक्षों में केवल Life 'प्राण' है Soul 'आत्मा' नहीं। अब '**येन प्राणन्ति वीरुध:**' में साक्षात् Life 'प्राण' का निरूपण है- तो जिस परमात्मा की शक्ति से लताएँ प्राण धारण करती हैं अर्थात् जिसकी 'हरकते इन्तज़ामी' से लताएँ (बेलें) 'प्राण (श्वास) लेती हैं' यह अर्थ हुआ, न कि कोई जीवात्मा अपनी 'हरक़ते इरादी' से साँस ले रहा है। क्योंकि किसी जीवात्मा का यहाँ प्रकरण नहीं, परमात्मा का तो प्रकरण है क्योंकि-

इदं जनासो विदथ महद्ब्रह्म वदिष्यति,
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुध:।

अथर्व. १/३२/१

इसका अर्थ यों है कि ''हे लोगो! उस 'महाब्रह्म' को जानो, जिसके विषय में कि मैं तुमसे कहता हूँ...इस प्रकार महाब्रह्म का प्रकरण उठाकर कहा है कि (येन.) जिस परमेश्वर (की हरक़ते इन्तज़ामी) से लताएँ प्राण धारण करती हैं।'' अत: इस प्रकार हमने प्रकरण के अनुकूल ही गौण अर्थ किया है। इसी प्रकार दूसरे मन्त्र **जीवन्तीमोषधीम्** में भी जीवन्तीम् शब्द आया है- जो कि 'जीव-प्राणने' धातु से बना है, '**जीव**' धातु का अर्थ '**प्राण**' (**श्वास**) **लेना है** अत: 'जीवन्तीम्' पद का अर्थ हुआ 'जीती हुई (ओषधी) को' अर्थात् प्राण धारण करती हुई को, सो यहाँ भी **प्राणन्** मात्र का प्रकरण है, न कि किसी जीवात्मा का। और ओषधी का प्राण धारण करना 'हरक़ते-इन्तज़ामी' से है न कि किसी जीवात्मा की 'हरक़ते-इरादी' से।

तथा 'सत्यार्थ प्रकाश' में से जो वृक्षादि शब्द को लेकर, आप **वृक्षों में जीव का होना (श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के मत के अनुसार है, ऐसा) सिद्ध करते**

हैं वह ठीक नहीं, क्योंकि 'वृक्षादि' शब्द 'क्रम-विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है। 'प्रक्षिप्त' पद की पहचान यह है कि जिस शब्द के निकाल डालने से अर्थ में कोई क्षति या भेद (फर्क) न आये और रहने से किसी प्रकार का दोष होता हो, वह 'प्रक्षिप्त' है। यहाँ 'वृक्षादि' पद के निकाल देने से कोई फर्क अर्थ (आशय) में नहीं आता, प्रत्युत क्रम ठीक हो जाता है और रहने से 'क्रमविरोध' रूप दोष रहता है। तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'साशनानशने' पद के भाष्य से विरोध हो जाता है- अतः वृक्षादि शब्द यहाँ प्रक्षिप्त है। 'क्रमविरोध' दिखाता हूँ, देखो 'सत्यार्थप्रकाश'-पृष्ठ २३५

प्रश्न- ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य-जन्म, किन्हीं को सिंह आदि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण गाय आदि पशु, किन्हीं को वृक्षादि, कृमि कीट पतंगादि जन्म दिए हैं।

यहाँ जंगमसृष्टि की जन्म-सम्बन्धिनी-विलक्षणता के उपन्यास से, ईश्वर में अन्याय आदि दोषों की आंशका करते-करते हरिण, गाय आदि पशु के पश्चात् 'कृमि कीट पतंग आदि' कहना चाहिये था क्योंकि पहले और अन्त में जंगमसृष्टि का प्रकरण है बीच में वृक्षादि पद असम्बद्ध है क्योंकि वृक्षादि स्थावर है। जंगमों में एकदम कूदकर स्थावर का आना क्रम को तोड़ देता है, अतः प्रक्षिप्त है। एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के '**साशनानशने**' पद के भाष्य से विरोध हो जाता है-क्योंकि वहाँ **पृथिव्यादिकं जीवसम्बन्धरहितं जड़म्**। पृथिवी, वृक्ष आदि को जीव के सम्बन्ध से रहित 'जड़' लिखा है। यदि 'सत्यार्थप्रकाश' में वृक्षादि पद प्रक्षिप्त न माना जाय तो वृक्षादि के जन्म का प्रतिपादक ग्रन्थ होने से जड़ प्रतिपादक ग्रन्थ से विरोध हो जायेगा। और यह समानकर्तृक ग्रन्थों में नहीं होना चाहिए, परन्तु वृक्षादि पद के निकाल डालने से क्रमविरोध और पूर्वापर विरोध दोनों दोषों की निवृत्ति हो जाती है। इसलिए यह वृक्षादि शब्द प्रक्षिप्त है। अतएव श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के लेख में 'पूर्वापर विरोध' रूप दोष के परिहार के लिए 'वृक्षादि' पद को निकाल डालना चाहिए। न कि '**साशनानशन**' पद के भाष्य में लिखे गए 'पृथिव्यादि' पद के 'आदि' पद से वृक्षादि अर्थ न लेना चाहिए। (अर्थात् 'वृक्षादि' अर्थ अवश्य लेना चाहिए 'काक्वां' सं)।

वेदान्तदर्शन' (शारीरक-भाष्य) **में भी** वृक्षादि में मुख्य **और गौण जीवात्मा** के होने के विषय में सिद्धान्त किया है कि वृक्षों में मुख्य जीव नहीं है, किन्तु 'गौण' अर्थात् 'अनुशायी' (!) जीव है। गूलर के फलों में जो कीड़े रहते हैं वे 'अनुशायी'! जीव हैं, अर्थात् वृक्षादि के अभिमानी जीव न होकर जो केवल बसेरा मात्र लेते हैं वे 'अनुशायी' (!) जीव कहलाते हैं। जैसे मनुष्य के शरीर में अहंभाव वाला जीवात्मा तो 'अभिमानी' जीव है और इस शरीर में यूका (जूँ) आदि 'अनुशायी' (!) जीव है देखो-

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् (वेदान्त सूत्र, अध्याय ३, पाद १ सूक्त २४)

इस सूत्र का शारीरकभाष्य (उत्तर-पक्ष) "**ब्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशायिनः** (!) **प्रतिपद्यन्त**" अर्थात् ब्रीहि (धान) आदि में- 'अनुशायी' (!) जीव सम्बन्ध मात्र रखते हैं-

इस वेदान्त सूत्र तथा भाष्य के प्रमाण से भी यही पाया जाता है कि वृक्षों में 'अभिमानी जीव' नहीं है। **श्री कणाद महर्षि** जी भी वृक्षों में जीवात्मा को नहीं मानते। देखो **'वैशेषिकदर्शन'**-

तत्पुनः पृथिव्यादिकार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्।

अर्थात् पृथिवी आदि कार्यद्रव्य 'शरीर' 'इन्द्रिय' और 'विषय' इन भेदों से तीन प्रकार का है। इस सूत्र पर **'प्रशस्तपाद-भाष्य'** में व्याख्या देखो-

त्रिविधञ्चास्याः कार्यं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्...तत्र शरीरं द्विविधं, योनिजमयोनिजम्...इन्द्रियं गन्ध व्यञ्जकं...विषयस्तु द्व्यणुकादिप्रक्रमेणारब्धस्त्रिविधो मृत्पाषाण-स्थावर-लक्षणः तत्र भूप्रदेशाः प्राकारेष्टिकादयो मृद्विकाराः, पाषाणा उपलमणिवज्रादयः, स्थावरास्तृण-गुल्मौषधि-तरु-लता-वितान-वनस्पतयः इति।

इस भाष्य में शरीर और विषय को पृथक्-पृथक् माना है, परन्तु यह तीनों पृथिवी के कार्य हैं, और पृथिवी 'जड़' है। अतः ये भी जड़ हैं। **भोगायतनम् शरीरम्** भोग का आश्रय, शरीर कहलाता है, भोग के साधन 'इन्द्रिय' हैं। 'विषय'=भोग्य अर्थात् भोग में आने वाली वस्तु को कहते हैं। यहाँ पृथिवी के विकाररूप जो विषय हैं, **श्री**

प्रशस्तपादाचार्य, श्री कणाद महर्षि के दर्शन के भाष्य में बताते हैं कि वे (विषय) तृण (घास) आदि हैं। अब इन विषयों क्रो, जो कि भोग्य हैं, यदि 'शरीर' मान लिया जाये तो! क्योंकि जब वृक्षों में 'अभिमानी' जीवात्मा माना जायेगा तो यह वृक्ष आदि उस (जीवात्मा) के शरीर होंगे, वैशेषिक दर्शन से विरोध होगा क्योंकि 'शरीर' और 'विषय' में भेद है। 'विषय' अर्थात् भोग्य पदार्थ भोग का आश्रय (शरीर) नहीं हो सकते, अतः भोक्ता (जीवात्मा) के भोग्य (विषय) वृक्ष आदि हैं, वे जड़ हैं, अतएव जीव से रहित हैं, क्योंकि '**चेतन शरीर**' भोग्य (विषय) नहीं हो सकता। यद्यपि शरीर भौतिक है तथापि चेतनाधिष्ठित होने के कारण गौणवृत्या 'चेतन' के समान लोक में माना जाता है।

श्री पण्डित गणपति शर्मा जी

'सत्यार्थप्रकाश' के **वृक्षादि** पद को क्रमविरुद्ध नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ क्रमशः किसी विषय का निरूपण विवक्षित नहीं है। 'क्रम' की आवश्यकता तो वहाँ होती है जहाँ वक्ता किसी प्रतिपाद्य विषय में क्रम की विवक्षा रखता हो। यदि बिना विवक्षा के ही क्रम का अड़ंगा लगाया जायेगा तो वेद में भी 'क्रमविरोध' हो जाएगा। देखो पुरुष सूक्त में -**तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं** इस मन्त्र में पशुओं की उत्पत्ति **तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः** इस मन्त्र में वेदों की उत्पत्ति **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्** इसमें ब्राह्मण आदि वर्णों की उत्पत्ति। तदनन्तर **चन्द्रमा मनसो जातः** में चाँद, सूर्य, वायु, प्राण और अग्नि आदि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

यदि इस सूक्त पर 'क्रमविरोध' का कुठार उठाया जाएगा तो 'सूक्त' रूपी तरु का पत्ता-पत्ता भिन्न हो जाएगा- 'पशु' 'वेद' ब्राह्मण आदि 'वर्ण' चाँद, सूर्य, वायु, प्राण और अग्नि क्या इसी लिखे गये क्रम से उत्पन्न हुए थे? क्या इस सृष्टिक्रम को कोई बुद्धिमान् मान लेगा? क्या यह बात बुद्धि में आ सकती है कि पशु पहले उत्पन्न हुए हों और वेद पीछे (मनुष्यों से पहिले) क्या वे वेद पशुओं के आशय (मन) में प्रकाशित हुए थे? क्या चाँद, सूर्य, आग, पानी, हवा आदि के उत्पन्न होने से पहले ही पशु और ब्राह्मणादि उत्पन्न हो गये और जीते रहे? इस बात को कोई विज्ञानवेत्ता मान लेगा? ऐसे 'विरुद्धक्रम' से आक्रान्त वेद को भी क्या आप प्रक्षिप्त मानेंगे? यदि आप यहाँ 'क्रमविरोध' के कारण वेद मन्त्रों को प्रक्षिप्त मानने के लिए तैयार नहीं हैं, तो फिर 'सत्यार्थप्रकाश' बेचारे ने ही क्या अपराध किया है? (जनता में हँसी...) हम क्यों यहाँ वृक्षादि पद को प्रक्षिप्त मान लें? प्रक्षिप्त अंश वही माना जाएगा जहाँ क्रम की विवक्षा सिद्ध होगी, जब यहाँ (सत्यार्थ प्रकाश में) किसी क्रम के प्रतिपादन में अभिप्राय ही नहीं है तो फिर आप क्योंकर 'क्रमविरोध' सिद्ध कर सकते हैं? यहाँ तो केवल योनिवैलक्षण्य के उपन्यसन से, परमात्मा में अन्यायात्मकदूषण के (पूर्वपक्ष द्वारा) उद्भावन में अभिप्राय है, जिसमें कि पूर्वपक्षी की ओर से श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने, वृक्षादि भी 'जीवात्मा' का शरीर (भोगाशय) होने के कारण रख दिए, बस इस शंकाग्रन्थ का इतना ही अभिप्राय है, अतएव प्रक्षिप्त भी नहीं है (**हेत्वसिद्धेरित्यर्थः**) क्योंकि आपका 'विरुद्धक्रम' रूप हेतु ही सिद्ध नहीं हो सकता, जिसका कि अवलम्बन कर, आप विरोध (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका से) दिखाना चाहते हैं।

दूसरे यह है कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका से विरोध तो तब होगा न? कि जब पहले आप '**साशनानशन**' पद के भाष्य के पृथिव्यादि पद के 'आदि' पद से वृक्ष आदि का ग्रहण युक्तियुक्त है-ऐसा सिद्ध कर लेंगे। वही तो आप किसी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकते। एक अस्वाभाविक और दीर्घकल्पना के पश्चात् आप 'क्रमविरोध' आदि की दुर्घट घाटियों को तय करके यह निश्चय निकालते हैं कि 'वृक्षादि' पद प्रक्षिप्त है। यह तो (वंशाल्लट्वाकर्षणोदाहरणमनुहरणमेतच्छ्रीमतम्) खोदा पहाड़ और निकला चूहा, और वह भी अधमुआ, अतः 'वृक्षादि' पद को प्रक्षिप्त कहकर 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में के 'साशनानशने' पद के भाष्य में से 'पृथिव्यादि' पद के 'आदि' पद से वृक्षों का ग्रहण करके, एवं उनकी जड़ता सिद्ध करके, सत्यार्थप्रकाश के इस प्रकरण से हमारे दिये गये 'पूर्वापरविरोध' का परिहार आप नहीं कर सकते। सो महाराज! भूमिका में 'वृक्ष' आदि का ग्रहण न कर जल-वायु आदि का ग्रहण करना चाहिए-अन्यथा आपके पक्ष में मेरी ओर से दिए गए 'पूर्वापरविरोध' का परिहार नहीं हो सकेगा, इसलिए यही मानना चाहिए कि श्री स्वामी

दयानन्द सरस्वती जी महाराज, वृक्षों में अवश्य 'अभिमानी' जीव को मानते हैं।

'साइंस' के अनुसार ही यदि आप Soul (आत्मा) और Life (प्राण) को मानते हैं तो पशुओं में भी आपको Life (प्राण) ही मानना चाहिए क्योंकि सांइटिस्ट लोग पशुओं में Soul (आत्मा)को नहीं मानते। अतएव पशुओं को मारने में हिंसा भी नहीं माननी चाहिए। परन्तु ऐसा मानने के लिए आप कभी भी तैयार नहीं होंगे। यदि आप वृक्षों में साइंस के अनुसार तो 'प्राण' मानें और पशुओं में (साइंस के विरुद्ध) आत्मा मानें तो यह 'अर्धजरतीय' न्यायाचरण आपको शोभा नहीं देगा। अत: वृक्षों में Life (प्राण) मात्र मानकर और उसका परमात्मा की 'हरक़ते-इन्तज़ामी' से चलना मानकर आप वृक्षों में जीव का अभाव सिद्ध नहीं कर सकते। क्योंकि प्राण बिना जीव के हो ही नहीं सकता। परमात्मा की 'हरक़ते-इन्तज़ामी' तो सभी जगह मानी ही जाती है, मनुष्य के शरीर में भी तो परमात्मा की ही 'हरक़ते-इन्तज़ामी' से 'प्राण' चलते हैं। यदि जीवात्मा के ही अधीन प्राण हों तो मरते समय वह प्राणों को कभी भी न निकलने दे। अत: **येन प्राणन्ति वीरुध: जीवन्तीमोषधीम्** इन मन्त्रों में लताओं आदि का प्राण धारण करना, बिना जीव के उत्पन्न ही नहीं हो सकता, अत: वृक्षों में जीव का अपलाप कर, केवल 'हरक़ते-इन्तज़ामी' से काम नहीं चल सकता। क्योंकि प्राण बिना जीव के कभी रह ही नहीं सकता। 'आत्मा' का नाम ही जीव इसीलिए है कि वह प्राण धारण करता है। देखो! श्री महर्षि 'पाणिनि' जी महाराज '**जीव प्राणने**' लिखते हैं कि जीव धातु प्राणन् (श्वास लेना रूप) अर्थ में है, और वृक्षों में प्राण आदि का होना पहले कही गई श्रुति और स्मृति द्वारा सिद्ध है- आपकी 'साइंस' भी इनमें Life (प्राण) को मानती है। यदि इन्हें 'नाइट्रोजन' न मिले तो ये सूख जायें। अत: प्राण की सत्ता, जीव की सत्ता की साधिका है।

'**वेदान्त सूत्र**' में 'मुख्य' और 'गौण' जीव पर कोई विचार नहीं है, वहाँ तो पञ्चाग्निविद्या के प्रकरण पर विचार है। तथा आपने जो मेरी पेश की हुई श्रुति पर गौण-प्रधान मानकर आक्षेप किया था और उसमें जो हेतु दिया था उस सबका निराकरण मैं कर चुका हूँ। अत: 'श्रुति' तथा 'छान्दोग्योपनिषत्' और 'मनुस्मृति' के प्रमाण से यह मानना चाहिए कि 'वृक्षों में जीव है।'

अन्यथा आपको बताना चाहिए कि, जिस प्रकार बिना कारण के मन्त्रों में 'सामान्य गति' का आश्रयण आप करते हैं। ऐसे ही आपके 'साशनानशने' पद के भाष्य में 'पृथिव्यादि' पद में 'आदि' पद से गृहीत वृक्षादि में 'गौण जड़ता' (बहि: संज्ञत्वाभावात्मिका) क्यों न मानी जाय? यहा कहाँ का न्याय है कि मेरे पक्ष के हेतु को तो 'गौणता' की उपाधि से उड़ा दिया जाय और आपका सोपाधिक हेतु उसी गौणता से बचा रहे।

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी

'छान्दोग्योपनिषत्' के **अस्य सोम्य! महतो वृक्षस्य** इत्यादि मन्त्र के प्रमाण से, जो वृक्षों में जीव का होना सिद्ध किया गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ 'वृक्ष' शब्द का अर्थ 'शरीर' है, 'पेड़' नहीं। **द्वा सुपर्णा** इत्यादि मन्त्र में वृक्ष शब्द का अर्थ 'शरीर' ही किया गया है, 'वृक्ष' शब्द '**ओ वृश्चू छेदने**' धातु से बना है अर्थात् (अविद्याकार्यत्वात्तत्त्वज्ञानादिना छेदनयोग्यं शरीरमिति) 'वृक्ष' नाम शरीर का है क्योंकि तत्त्वज्ञान आदि से छेदन किया जा सकता है। दूसरा हेतु यह है कि इस श्रुति में 'म्रियते' पद आया है, वृक्ष के लिए 'म्रियते' (मरना) पद कहीं नहीं आता। प्रत्युत् शरीर के लिए ही 'म्रियते' पद का प्रयोग होता है, 'जीवात्मा' के लिए 'म्रियते' पद नहीं आ सकता क्योंकि जीव 'नित्य' है। इसलिए '**अस्य सोम्य! महतो वृक्षस्य**' इस श्रुति से, 'वृक्ष शब्द शरीर का पर्याय होने से, वृक्षों में जीव होना सिद्ध नहीं हो सकता।'

'सत्यार्थप्रकाश' में भी 'वृक्षादि' पद प्रक्षिप्त है क्योंकि वहाँ 'वृक्षादि' पद होने से लेख का क्रम टूट जाता है, क्योंकि 'ईश्वर' ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म, किन्हीं को सिंह आदि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण गाय आदि पशु, किन्हीं कों 'वृक्षादि' इतने पाठ के पश्चात् पहली लेख प्रणाली के अनुसार, 'कृमि कीट पंतगादि' इस लेख के पूर्व 'किन्हीं को' ऐसा पाठ अवश्य आना चाहिए था, परन्तु ऐसा पाठ है नहीं, और विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वृक्षादि शब्द के पूर्व जो, 'किन्हीं को' पद आया है वह कृमि पतंगादि पद के पहले था और जब

'वृक्षादि' पद के मिला देने से वह ('किन्हीं को' पद) उससे दूर जा पड़ा। अत: लेख शैली तथा पूर्वोक्त (आर्थिक) क्रमविरोध तथा भूमिका के '**साशनानशने**' पद के भाष्य से विरुद्ध होने के कारण यह 'वृक्षादि' पद प्रक्षिप्त है। क्योंकि यहाँ पृथक् अनमेल सा होने से खटकता है, अत: 'सत्यार्थप्रकाश' के इस लेख से वृक्षों में जीव का होना सिद्ध नहीं किया जा सकता और न भूमिका के '**साशनानशने**' पद के भाष्यान्तर्गत 'पृथिव्यादि' पद के 'आदि' पद से लिए गए 'वृक्ष आदि' का अर्थ के कारण, पूर्वापरविरोध हो सकता है।

एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में जो आप वृक्ष आदि की 'गौण' जड़ता की कल्पना करते हैं कि जड़ता से अभिप्राय 'बाह्यज्ञानाभाव' क्यों न लिया जाय, वह भी ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ **जीवसम्बन्धरहितम् जड़म्** यह जड़ का लक्षण कर दिया गया है, 'लक्षण' में गौणकल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि लक्षण में औपचारिक (गौण) पद नहीं रखे जाया करते। औपचारिक पद तो सामान्य बोल-चाल आदि में ही हुआ करते हैं, जैसे कहा जाए कि 'ज्वालापुर आ गया' यहाँ 'ज्वालापुर-नगर' जड़ वस्तु है उसमें 'आना' रूप-क्रिया नहीं हो सकती। ''अत: उसका गौण अर्थ यह लिया जाता है कि हम ज्वालापुर में आ गये''। अत: वृक्षों की जड़ता से कोई गौण अर्थ नहीं लिया जा सकता क्योंकि यहाँ लक्षण कर दिया गया है कि हमारा (स्वामी दयानन्द जी का) अभिप्राय 'जीवाभाव' से है तो यह बात सिद्ध हुई कि 'जीवाभाव' से अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की कल्पना वहाँ नहीं कर सकते, अब यह बात स्पष्ट हो गई कि पृथिव्यादि जीव से रहित हैं और इसे आप भी मानते हैं अन्यथा पृथिव्यादि में भी आप को जीव मानना पड़ेगा जो कि आपके मतानुरूप नहीं है। अत: भूमिका से विरोध न आने पाये इसलिए सत्यार्थ प्रकाश में से 'वृक्षादि' पद को निकाल डालना चाहिए।

तथा प्रशस्तपादभाष्य में शरीर, इन्द्रिय और विषय के पृथक्-पृथक् माने जाने से, 'विषय' जो वृक्ष आदि हैं वे शरीर नहीं हो सकते। भोग-आश्रय ही 'भोग्य' नहीं हो सकता। वृक्ष आदि को यदि जीवयुक्त माना जाएगा तो वृक्ष आदि, स्वाभिमानी जीव के शरीर होगें, ऐसी दशा में 'वृक्ष' भोग का आश्रय 'शरीर' हुआ-वह 'भोग्य' क्यों कर हो सकता है? जैसे कि मनुष्य का 'शरीर' 'विषय' नहीं हो सकता, फिर चाहे वह (शरीर) पार्थिव ही क्यों न हो, जैसे कि 'विषय' पार्थिव है, परन्तु श्री कणाद के भाष्यकार श्री प्रशस्तपादाचार्य वृक्षों को भोग्य (विषय) कह रहे हैं। 'विषय' भोक्ता के भोगने के लिए होते हैं, यदि वृक्षों में तदभिमानी जीव मानकर, उनको शरीर माना जाएगा, तो वह जीव उसी शरीर को 'भोग्य' कर जाय। इस प्रकार की कल्पना सर्वथा असमंजस है अत: यही निश्चय है कि 'वृक्ष' विषय हैं अतएव जड़ हैं अर्थात् जीव-सम्बन्ध से रहित हैं।

वेदान्त में 'पंचाग्निविद्या' का प्रकरण नहीं है, वहाँ तो यह कहा गया है कि 'ब्रीहि आदि में' अनुशायी (!) 'जीव' संसर्गमात्र को प्राप्त होते हैं और 'छान्दोग्योपनिषद्' के **अस्य सोम्य! महतो वृक्षस्य** इत्यादि भाग पर भाष्य में श्री शंकाराचार्य जी लिखते हैं कि-

बौद्धमते स्थावराश्चेतना:, कणादमते तु स्थावरा जड़ा:(?)

अर्थात् बुद्धानुयायियों के मत में स्थावर (वृक्षादि) चेतन हैं और कणाद के मत में स्थावर जड़ हैं, इससे यह बात स्पष्ट है कि शंकराचार्य, आस्तिक कणाद के मत को स्वानुकूल होने से स्वीकार करते हैं और बौद्ध मत का खण्डन करते हैं, क्योंकि वे (बौद्ध लोग) नास्तिक थे, अत: वेदान्त सूत्र भाष्य तथा छन्दोग्योपनिषद् भाष्य में श्री शंकराचार्य जी भी वृक्षों में जीव के अभाव को मानते हैं।

श्री पण्डित गणपति शर्मा जी

यद्यपि यह बात सत्य है कि **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं 'वृक्षं' परिषस्वजाते। तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।** तथा-**समाने 'वृक्षे' पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान:। जुष्टं यदा पश्त्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोक:।।**

इत्यादि मन्त्रों में 'रूपकालंकार' होने के कारण 'वृक्ष' शब्द का अर्थ 'देह' ले लिया जाय, क्योंकि यहाँ 'जीवात्मा' तथा 'परमात्मा' के तत्त्व का निरूपण उनको दो पक्षियों के समान मानकर किया गया है। जैसे पक्षी वृक्ष पर बैठते हैं और उनके (पिप्पल) फल को खाते हैं, ऐसे ही जीव और परमात्मा रूपी पक्षियों के लिए 'उच्छेदन सामान्य' से अर्थात् जैसे छेदन से, नष्ट हो जाने के कारण पेड़ का नाम 'वृक्ष' है

वैसे ही 'देह' भी तत्त्वज्ञान से नष्ट (छिन्न) हो जाता है, अतः छेदन रूप-समान धर्म्मवान् होने के कारण 'देह' के लिए यहाँ 'वृक्ष' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'देह' वृक्ष रूप है और इसीलिए 'पिप्पल' शब्द, भोग्य के समान होने के कारण कर्मों के शुभाशुभ फलों के अर्थ में माना जाता है, परन्तु "**अस्य सोम्य! महतो वृक्षस्य**" इस श्रुति में कोई ऐसा कारण प्रतीत नहीं होता कि, क्यों यहाँ भी 'वृक्ष' शब्द का अर्थ 'शरीर' लिया जाय? यह कोई दलील नहीं कि एक स्थान में कारण विशेष से एक शब्द अमुक अर्थ में आ गया, अतः सर्वत्र उसी अर्थ में उसे माना जाय। ऐसा मानने से सर्वत्र अव्यवस्था तथा अविश्वास हो जाएगा और प्रत्येक स्थान में, आप स्वरस अर्थ को छोड़कर 'गौण' कल्पना करते हैं, कहीं 'प्रक्षेप' का अड़ंगा लगा देते हैं, क्यों नहीं स्वरस अर्थ को स्वीकार कर सीधी कल्पना का अवलम्बन करते? जब 'वृक्ष' शब्द का मुख्य प्रयोग 'पेड़' के लिए सर्वलोक में किया जाता है तो बिना कारण, क्यों गौण कल्पना तक दौड़ने का परिश्रम उठाया जाए? एक क्षणभर के लिए यदि 'वृक्ष' शब्द का अर्थ यहाँ बिना किसी कारण के आपके अनुरोध मात्र से, 'शरीर' ही मान लिया जाए तो आप ही फिर बताइये कि-

अस्य सोम्य! महतो वृक्षस्य मूलेऽभ्याहन्यात्, मध्येऽभ्याहन्यात्, अग्रेऽभ्याहन्यात्, पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति... एकां शाखां जहाति, द्वितीयां... तृतीयां...सा शुष्यति... सर्वः शुष्यति।

इत्यादि में शेष 'वृक्ष' पेड़ सम्बन्धी अंगों का क्या हाल होगा? इन बेचारों की क्या गति होगी? इनके वृक्ष, ('शरीर' अर्थ मानकर) मूल (जड़), मध्य, अगला भाग शाखा (टहनी), एक शाखा, दूसरी शाखा, तीसरी शाखा, सब शाखाएं, उन शाखाओं का सूखना, सारे 'वृक्ष का सूखना' आदि शब्दों के झटपट स्फुरण होने वाले स्वरस अर्थ को छोड़कर कहाँ तक गौण-कल्पना के लिए व्यर्थ-शिरः कपाल को परिश्रान्त करेंगे।

और आप यह जो कहते हैं कि 'वृक्ष' के लिये म्रियते (मरना) शब्द का प्रयोग नहीं होता और शरीर के लिए 'म्रियते' प्रयोग होता है अतः 'वृक्ष' शब्द का अर्थ शरीर लेना चाहिए-यह भी आपका कहना ठीक नहीं है। यहाँ 'म्रियते' पद शरीर के लिए आया ही है- पर ऐसा नहीं, जिस प्रकार कि आप जोड़-तोड़ कर रहे हैं-उपनिषद् के सब प्रकरण को देखिए।

भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति, तथा सोम्येति होवाच-

श्री आरुणि उद्दालक जी महाराज स्वपुत्र 'श्वेतकेतु' को नाना प्रकार के दृष्टान्तों से 'आत्म-ज्ञान' के लिए उपदेश कर रहे हैं, श्वेतकेतु नहीं समझता और बार-बार कहता है कि भगवान् मुझको फिर बतावें कि आत्मा कैसे नित्य है और शरीर कैसे अनित्य है? पिता कहते हैं कि 'सोम्य'! सुनो-(दृष्टान्त से समझाते हैं) '**अस्य सोम्य! महतो वृक्षस्य**' इत्यादि आरम्भ करके '**सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति**' यहाँ तक वृक्ष का दृष्टान्त देकर दार्ष्टान्त वाक्य से उपसंहार करते हैं कि-

एवमेव खलु सोम्य! विद्धीति होवाच, जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते इति।

इसी प्रकार, (जैसे कि वृक्ष की दशा वर्णन की गई) हे सोम्य! जीव से वियुक्त होकर यह शरीर मर जाता है, जीव नहीं मरता, परन्तु आप दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तवाक्य को, सब एकमय करके यह समझ रहे हैं कि यह 'मरना' भी ऊपर आए 'वृक्ष' (जिसका अर्थ आप 'शरीर' मान बैठे हैं) के लिए ही प्रयुक्त हुआ है- हालांकि 'म्रियते' पद दृष्टान्त में कहे गये वृक्ष के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ। यदि ऐसा होता तो **जीवापेतं वाव किलेदं म्रियत** न होता किन्तु **जीवापेतो वाव किलायं म्रियते** ऐसा पाठ होता, जैसे कि ऊपर 'सर्वःशुष्यति' में हुआ है क्योंकि वृक्ष शब्द पुल्लिंग है, उसके विशेषण भी पुल्लिंग में ही होने चाहिए थे। और कदाचित् आप नहीं मानते और सर्वथा पाठ की अवहेलना तथा पूर्वाचार्यों की व्याख्या का निरादर कर स्वतन्त्र जोड़-तोड़ किए बिना नहीं सन्तुष्ट होते तो हम यह सिद्ध करते हैं कि वृक्षों के लिए भी 'मरना' शब्द का प्रयोग होता है, देखिए! लोक में बोलते हैं कि 'फसल मारी गई' 'खेती मारी गई'। तथा रघुवंश में देखिए!

अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता।।

(रघुवंश, ८-४५)

इसकी टीका में 'मल्लिनाथ' लिखते हैं-

अत्रार्थे हिमसेकेन तुषार निष्यन्देन विपत्ति-मृत्युर्यस्याः सा तथा नलिनी पद्मिनी मे पूर्वप्रथमं निदर्शनमुदाहरणं मता-

अतः संस्कृत भाषा में भी वृक्षों के लिए 'मृत्यु' शब्द का प्रयोग आता है। अतः चूँकि वृक्षों के लिए 'म्रियते' पद का प्रयोग हो नहीं सकता इसलिए यहाँ 'वृक्ष' शब्द का अर्थ पेड़ भी नहीं हो सकता ऐसा आप नहीं कह सकते तथा जो आप श्री कणाद तथा श्री प्रशस्तपादाचार्य के सिद्धान्त का उपन्यास कर श्रुति, स्मृति तथा श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के लेखों में मुख्यार्थ को छोड़कर गौण कल्पना तथा प्रक्षेप आदि प्रपञ्च रचते हैं, वह ठीक नहीं है। क्योंकि श्रुति तथा श्रुत्यनुसारी स्मृति-वचनों से विरुद्ध होने के कारण 'कणादस्मृति' हेय (त्याज्य) है। यदि आप स्मृति के बल से, 'वैशेषिकदर्शन' स्मृति ही है, काणादमत की स्थापना करेंगे तो हम भी मानवमत को स्मृतरूप से प्रत्यवस्थापित करेंगे। (**''स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात्''**) (वेदान्तसूत्र) का यही भाव हैं। इन दोनों में से एक को अवश्य मानना होगा और दूसरी को अवश्य छोड़ना होगा। दोनों विरुद्ध ज्ञान को समर्पित होने से अंगीकार्य नहीं हो सकतीं। अतः श्रुति के अनुकूल होने के कारण मनु का पक्ष ग्राह्य है और श्रुति-विपरीत काणादमत अनुपादेय है। सो महाराज! वेदविरुद्ध काणादमत के बल पर, आप हम पर आक्षेप नहीं कर सकते। तथा छान्दोग्योपनिषद् शांकरभाष्य में से **बौद्धमते स्थावराश्चेतनाः, काणादमते तु स्थावरा जड़ाः** यह विचित्र पाठ सुनाकर मनमानी **कतरब्योत** कर रहे हैं, देखिये! यहाँ का ठीक पाठ और उसका अर्थ-

वृक्षस्य रसश्रवणशोषणादिलिंङाज्जीववत्वं दृष्टान्तश्रुतेश्च चेतनावन्तः स्थावरा इति, बौद्धकाणादमतमचेतनाः स्थावरा इत्येतदसारमिति दर्शितं भवति। इस शांकर भाष्य पर श्री आनन्दगिरी कृत टीका भी देखिये-

यत्तु वैशेषिकवैनाशिकाभ्यां स्थावराणां निर्जीवत्वेनाचेतनत्वमुक्तं, तदेतन्निरस्तमित्याह-वृक्षस्येति। आदि-

शब्दो बुद्धिमोददादिसंग्रहार्थः। स एष वृक्षो जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रभूत इति दृष्टान्तश्रुतिः।।२।।

इसका अर्थ भी सुनिये-रस के टपकने और सूखने आदि हेतुओं से वृक्षों का जीववान् होना और दृष्टान्त श्रुति से स्थावर, चेतना वाले हैं (यह बात सिद्ध हुई) (**इतिहेतोरित्यर्थः**) इसलिए, बौद्धों और काणादों का मत, कि स्थावर अचेतन (जड़) हैं यह बात 'असार' (सारहीन-झूठ) है अर्थापत्या दिखा दी गई। आनन्दगिरिकृतटीका का अर्थ भी देखिये- 'वैशेषिक' अर्थात् कणाद के मत को मानने वाले, तथा 'वैनाशिक' बौद्ध आदि नास्तिक लोग, जो यह कहते हैं कि 'जीव से रहित होने के कारण स्थावर अचेतन हैं'- यह बात खंडित हो गई। अतः भाष्यकार कहते हैं 'वृक्षस्य' इत्यादि, (मूल में)। भाष्य के शोषणादि पद में जो आदि पद है उससे बुद्धि और मोद (प्रसन्नता) आदि समझना। **स एव वृक्षो जीवेनात्मनाऽनुप्रभूतः** -यह 'दृष्टान्तश्रुति' है। इस प्रकार शांकरभाष्य का यह ठीक पाठ तथा अर्थ, हमने खोल दिया है आप जो पाठ सुनते हैं वह, 'पाठ' न जाने कहाँ का है? इसी प्रकार आप सब स्थानों में प्रमाणाभास तथा युक्त्याभास से न जाने क्यों प्रेम रखते हैं?

वेदान्तदर्शन के अध्याय ३ के प्रथमपाद में **पञ्चाग्निविद्या** सम्बन्धी नाना विचार हैं- उसमें से यह छठा अधिकरण है, जिसे आप मनचाहा नोच खसोट रहे हैं। प्रथम तो 'अनुशयी' शब्द है, 'अनुशायी' नहीं। जिसका अर्थ है 'अनुशय वाले।' 'अनुशय' कर्म को कहते हैं। इसी पाद में **कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च** इस सूत्र में यह निश्चय कर चुके हैं कि जो लोग 'चन्द्रलोक' में जाते हैं, क्या वे सब अपने कर्मों के फल को भोगकर भूलोक पर उतरते हैं या कुछ कर्म (शेष) साथ लेकर उतरते हैं? इस प्रकार आशंका करके वहाँ यह निर्णय किया है कि '**कृतात्यये**' अर्थात् उन कर्मों के, जिनके कारण कि 'चन्द्रलोक' में जाते हैं। फल की समाप्ति पर अनुशयवान् अर्थात् और-और कर्मों से युक्त (**चन्द्रलोक प्राप्तिनिमित्तककर्मेतरकर्मवन्तः इतिभावः**) ही उतरते हैं- इत्यादि। फिर इस छठे अधिकरण में यह विचार है कि वही 'अनुशयी' (अनुशायी नहीं) जीव जो कि चन्द्रलोक से अवरोहण कर रहे हैं क्या **त इह व्रीहियवा औषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते** इस श्रुति का

यह अभिप्राय है कि वे जीव, ब्रीहि (धान) औषधि आदि की जाति 'जन्म' को प्राप्त हो जाते हैं या इन (वनस्पति आदि) से सम्बन्ध मात्र रखते हैं? इस प्रकार सन्देह करके पूर्वपक्षी की ओर से यह कहकर कि धान आदि की योनि को प्राप्त होते हैं, ऐसा मानना चाहिए- निश्चय करते हैं कि **अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्**। अन्य जीवों से अधिष्ठित ब्रीहि आदिकों में अनुशयी अर्थात् अनुशय (कर्म) वाले जीवों का सम्बन्ध मात्र होता है। परन्तु आप इस भाष्य के विपरीत अनुशयी का अनुशायी बनाकर, उसका मनमाना अर्थ बताते हैं। जो किसी शास्त्रकार ने नहीं माना और देखिये, सूत्र में **अन्याधिष्ठितेषु** पद साफ बता रहा है कि ब्रीहि आदि अन्य जीवों से अधिष्ठित होते हैं अर्थात् अन्य जीव, ब्रीहि आदि के अधिष्ठाता (अभिमानी जीव) होते हैं, जैसे हम अपने-अपने शरीर के अधिष्ठाता हैं। अत: यह किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं कर सकते कि श्री शंकराचार्य या श्री व्यास जी महाराज वृक्षों में 'जीव' नहीं मानते थे, प्रत्युत् यह बात निर्विवाद है कि ये दोनों ही श्रुत्यनुकूल होने से वृक्षों में अधिष्ठातृ-(अभिमानी) जीव को मानते हैं।

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी-

श्री कणाद महर्षि के मत से हमने श्रुति का गौण अर्थ किया, आप उसका खण्डन 'रघुवंश' के प्रमाण से करते हैं। कणाद के सामने कालिदास को क्यों प्रमाण माना जाय? साहित्य के जानने वाले 'आत्म विद्या' को क्या जानें? तथा लोक भी प्रमाण नहीं माना जा सकता-लोक में तो 'फसल मारी गई' ऐसे स्थान में गौण (उपचार से) प्रयोग होता है, अत: लोक में 'मरना' शब्द का प्रयोग वृक्षों के लिए आता है इसलिए श्रुति में भी ठीक है, यह ठीक नहीं। छान्दोग्योपनिषद् में यदि यह मान भी लिया जाय कि शंकराचार्य ने वृक्षों में जीव होना लिखा है तो **अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्** के भाष्य से विरुद्ध होने के कारण अप्रमाण है, क्योंकि शंकाराचार्य अशुद्धि (गलती) या विरोध कर सकते थे, वे ऋषि नहीं थे। 'सत्यार्थप्रकाश' के ११ वें पृष्ठ में **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च** का अर्थ करते हुए श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज लिखते हैं कि-**जो जगत् नाम प्राणी चेतन और जंगम अर्थात् जो चलते-फिरते हैं, 'तस्थुष:' अप्राणी अर्थात् स्थावर, जड़ पदार्थ पृथिवी आदि हैं**-इत्यादि प्रमाण से यह बात स्पष्ट है कि श्री स्वामी दयानन्द जी स्थावरों को जड़ मानते थे तथा सत्यार्थप्रकाश के २२१ वें पृष्ठ में कहीं-कहीं जड़ के निमित्त से जड़ भी बन और बिगड़ भी जाता है जैसे परमेश्वर के रचित बीज पृथिवी में गिरने और जल पाने से वृक्षाकार हो जाते हैं, इत्यादि प्रकरण में भी जड़ बीज से उत्पन्न वृक्षों को जड़ ही मानते हैं। क्योंकि यहाँ जड़ पृथिवी और जड़ जल के निमित्त से, जड़ बीज का वृक्षाकार होना लिखते हैं। अत: इन दो प्रमाणों से यह बात सिद्ध है कि वृक्षों में जीव नहीं है, इन कारणों से भी सत्यार्थप्रकाश के २३५ वें पृष्ठ में से 'वृक्षादि' पद प्रक्षिप्त है ऐसा प्रतीत होता है। पहले कही गई युक्तियों और इन दो प्रमाणों के विरुद्ध होने के कारण 'वृक्षादि' पद को निकाल डालना चाहिए। वेदान्तदर्शन भाष्य में पूर्वपक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता। आप पूर्वपक्ष पढ़ते हैं-उत्तर पक्ष प्रमाण है। १७६ स्थानों में मिलेगा कि वृक्षों में जीव नहीं है।

श्री पंडित गणपति शर्मा जी-

श्री शंकराचार्य के लेख में पूर्वापर विरोध नहीं हो सकता, जिस मनमाने पाठ के बल पर आप विरोध दिखा रहे हैं-वैसा पाठ ही कहीं नहीं है, ऐसा विरोध केवल 'वन्ध्यापुत्र' के 'नाम' के विरोध के समान है। वेदान्तदर्शन के अवरोहण प्रकरण की स्पष्ट व्याख्या करने पर भी यदि आप नहीं मानते तो इसका क्या किया जाय? और न इसका आप कुछ खण्डन करते हैं। आप कहते हैं कि कालिदास तथा मल्लिनाथ का लेख प्रमाण नहीं हो सकता। वे आत्मविद्या को क्या जानें- हम आप से कहते हैं कि आप श्री शंकराचार्य का प्रमाण देते हैं वे भी प्रमाण नहीं होने चाहिएं, क्योंकि आर्यसमाजिक उन्हें भी तो ऋषि नहीं मानते। यदि आप शंकराचार्य के लेख को प्रमाणरूप से पेश करेंगे तो कोई वजह नहीं कि मल्लिनाथ जैसे षड्दर्शन के तत्त्ववेत्ता को प्रमाण न माना जाय-देखिये वे अपनी **'विद्यापारदृश्यता'** के विषय में कैसा अच्छा लिखते हैं-

वाणी काणभुजीमजीगणदवाशासीच्चा वैयासिकीमन्तस्तन्त्रमरंस्त, पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत्। वाचानाकलयदहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां, लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यश:।

मल्लिनाथकविः सोयमित्यादि...।

अर्थ-जो (मल्लिनाथ) कणाद की वाणी (वैशेषिक दर्शन) को ज़ान चुका है और जो व्यास की वाणी (वेदान्तदर्शन) की शिक्षा पा चुका है, 'तन्त्र' शास्त्र (मारण, माहन, उच्चाटन आदि विद्या के प्रतिपादक शास्त्र) में जो रमण कर चुका है। जो श्री पतञ्जलि के महाभाष्य में जागरूक (खबरदार) है अर्थात् जिसको 'महाभाष्यान्त' व्याकरण स्मरण है। जो गौतम के बनाये न्याय शास्त्र के सम्पूर्ण तत्त्व को जानता है। विद्वानों के, 'सौजन्य' से उत्पन्न यश का जो उपज्ञाता (ईजादकुनिन्दा) (Theorist) थ्योरिस्ट है। वह कवि (शायर) मल्लिनाथ इत्यादि- इस प्रकार गुणगणसमन्वित महाविद्वान् की बात को यो टाल देना-कि "ऋषि नहीं-यह नहीं-वह नहीं," ठीक नहीं। हम और आप लोगों की अपेक्षा वह महापण्डित था। सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ २११ में बीज को जड़ कहा है- न कि वृक्ष को अभिमानी जीव से शून्य। मनुष्य, पशु आदि के शरीर भी तो 'जड़-रजोवीर्य्य' से ही बनते हैं। अतः मनुष्य भी जड़ हैं, ऐसा नहीं कह सकते-एवं जड़ बीज से उत्पन्न वृक्ष चेतनात्मा से अधिष्ठित नहीं है, यह नहीं कह सकते। सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ २११ में स्थावर से जड़ पृथिवी जल आदि लिये गये हैं, न कि वृक्ष आदि, क्योंकि 'स्थावर' पद का अर्थ स्थिर रहने वाला है, अतएव स्थिर रहने वाले पृथिवी आदि पंचमहाभूत तथा वृक्ष आदि हैं- इसी कारण से कि यहाँ स्थावर शब्द से वृक्ष आदि का ग्रहण भी लोग न कर लें, अतः जड़ विशेषण दिया है वरना पृथिवी आदि जड़ होते ही हैं यह लिखने की क्या आवश्यकता थी?

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी

पण्डित जी ने अथर्ववेद के जो दो मन्त्र प्रमाण रूप से वर्णन किए-उनका उत्तर सामान्य तथा विशेष-प्राणन् की व्याख्या से दे चुका हूँ अर्थात् मैं यह बता चुका हूँ कि वहाँ ओषधी आदि के जीवन से तात्पर्य सामान्य जीवन से है। जैसे चाँद सूर्य आदि पदार्थ परमात्मा की 'हरक़ते-इंतज़ामी' से ही गति (हरकत) करते हैं, ऐसे ही परमात्मा की सामान्य-नियामिक शक्ति से वृक्ष आदि प्राण धारण करते हैं, किसी 'अभिमानी' जीव की विशेष शक्ति से नहीं। और कि यह सामान्यगति का आश्रयण प्रकरण के अनुकूल है, प्रतिकूल नहीं। तथा जिस-जिस योनि में जीव की स्थिति मानी जाय, वहाँ इस बात का विचार अवश्य करना चाहिए कि वह 'कर्मयोनि' है या 'भोगयोनि'।

उभययोनि-विचार से यह बात स्पष्ट हो सकती है कि इस योनि में जीव है या नहीं, क्योंकि जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के फलों को भोगने तथा नये कर्मों को करने के लिए ही शरीरादिसाधनात्मक योनियों को प्राप्त होता है। यदि मान लें कि जीव अपने बुरे कर्मों के कारण स्थावर (वृक्ष) भाव को प्राप्त होता है तो स्थावरों को 'कर्मयोनि' इसलिए नहीं कह सकते कि मनुष्ययोनि के अतिरिक्त और कोई कर्मयोनि संसार भर में नहीं है, यह सर्वसम्मत बात है। यद्यपि मनुष्ययोनि में भोग भी होता है तथा मनुष्ययोनि कर्मप्रधान होने से 'कर्मयोनि' ही मानी जाती है, भोग तो केवल (कर्म के साधनरूप) शरीर की रक्षा के लिए हैं। यद्यपि **कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्त्तुञ्च भुञ्जते** कर्म भोग के लिए करते हैं और भोग कर्म करने के लिये करते हैं, यह लोकोक्ति है। तथापि यह मनुष्य-शरीर भोग की खातिर नहीं मिला है, किन्तु यह शरीर कर्म करने के लिए ही मिला है। भोग आनुषङ्गिक है **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः** इत्यादि श्रुति तथा 'कर्मयोग' और 'ज्ञानयोग' की प्रतिपादिका गीता का यही तात्पर्य है। अतः मनुष्य योनि से भिन्न वृक्ष आदिक योनियों को (अभ्युपगमवाद से कहा जाता है-'लेखक') 'कर्मयोनि' में नहीं मान सकते, तथा कर्म के साधन कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियों के न होने से भी वृक्ष को कर्मयोनि में नहीं मान सकते। भोगयोनि वाले वृक्षादिक नहीं हो सकते। क्योंकि भोग का साधन कोई इन्द्रिय वृक्षों के पास नहीं है तथा हर दो (कर्म तथा भोग रूप) योनियों में होने वाले अवस्थाकृत-लक्षण वृक्षों में नहीं घट सकते, क्योंकि हर एक योनि में जीव की (जागरित, स्वप्न तथा सुषुप्ति-रूप) तीन अवस्थाएँ होती है। यदि वृक्षों में जीव मान लिया जाए तो बताना चाहिए कि जागरित आदि तीनों अवस्थाएँ क्योंकर, इनमें घट सकती हैं? **इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरणम्** जिस अवस्था में इन्द्रियों द्वारा पदार्थों का अनुभव होता है उस अवस्था को 'जागरण' कहते हैं-सो वृक्षों में इन्द्रियों के न होने से जागरणाभाव सुतरां सिद्ध है जब जागरित-अवस्था ही नहीं

तो 'स्वप्न' अवस्था भी नहीं हो सकती-**जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः स्वप्नः जागरित**-अवस्था के संस्कारों से जन्य जो विषयों के सहित प्रतीति (ज्ञान) होती है, उसे 'स्वप्न' कहते हैं। जब 'जागरित' ही नहीं तो बेचारे पेड़, स्वप्न क्या देखेंगे? एवं 'सुषुप्ति' जागरित आदि की अपेक्षा से होती है- जहाँ जागरित आदि अवस्थाएँ नहीं होती, वहाँ 'सुषुप्ति' भी नहीं हो सकती। यदि कहो कि वृक्षादि 'समाधि' अवस्था में हैं तो 'समाधि' 'वीतराग' आदि सिद्ध पुरुषों में होती है, पशु, वृक्षादि में नहीं होती। अतः वृक्षों में जीवों की सी कोई बात पाई ही नहीं जाती और न कोई ऐसा प्रमाण है कि जीव अपने किसी प्रकार के कर्मों को भोगने के लिए वृक्षादि का जन्म लेता है। 'मनुस्मृति' अकेले प्रमाण नहीं हो सकती। श्रुत्यनुसारिणी स्मृति ही मान्य हुआ करती है। कोई ऐसी श्रुति बतानी चाहिए जिसमें यह कहा गया हो कि जीव कर्मों के फलों को भोगने के लिए वृक्षों में जन्म लेता है तथा 'वैशेषिक दर्शन' में स्थावरों को 'भोग्य' अर्थात् 'विषय' माना है- विषय-भोग्य, 'साधन' अर्थात् 'शरीर' नहीं हो सकते।

वेदान्त-दर्शन में **अन्याधिष्ठितेषु** सूत्र का अभिप्राय अधिष्ठातृरूप 'अभिमानी जीव' से नहीं है, किन्तु जैसे बाग का स्वामी 'अधिष्ठाता' कहलाता है, वृक्षादि के अधिष्ठाता=स्वामी और लोग होते हैं और उनके वे (वृक्षादि) भोग्य होते हैं, ऐसे ही अन्य लोगों से अधिष्ठित (मक़बूजा) व्रीहि आदि में जीवों का सम्बन्ध मात्र होता है, अर्थात् वृक्षों में या वृक्षों पर अनुशायी (!) (बसेरा लेने वाले पक्षी, कीट आदि) ही होते हैं- 'अभिमानी जीव' नहीं-अतः वृक्षों में जीव का होना वेदान्तदर्शन से सिद्ध नहीं हो सकता, और यदि वृक्षों में जीव हो भी, तो उस दशा में वृक्ष 'चेतन' होंगे और चेतन (मनुष्यादि) के चेतन (धानादि) भोग्य होंगे, किन्तु ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि चेतन का भोग्य चेतन ही संसार में दृष्टिगोचर नहीं होता-तथा उन (धानादि) के खाने में हिंसा भी होगी।

'द्वा सुपर्णा...' इत्यादि श्रुति में रूपक है, चेतन जो जीव और परमात्मा हैं उनकी समता चेतन पक्षियों से है, जड़ प्रकृति की समता 'वृक्ष' से है, अतः 'वृक्ष' भी जड़ हैं-अन्यथा कुछ भी समता न होने से 'रूपक' ही ठीक न हो सकेगा। क्योंकि प्रकृति की और किसी धर्म द्वारा वृक्ष के साथ समता नहीं हो सकती। और स्वामी तुलसीराम जी (मेरठ निवासी) ने भी यही अर्थ किया है, अतः इस श्रुति से भी यह स्पष्ट हुआ कि वृक्ष 'जड़' हैं। अतएव श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने सत्यार्थ प्रकाश (१९४ पृष्ठ में) **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'**-इत्यादि मन्त्र के अर्थ में, अप्राणियों के उदाहरण में वृक्षों को लिखा है- तथापि

देखो सृष्टि के बीच में जितने प्राणी अथवा अप्राणी हैं, वे सब अपने-अपने कर्म और यत्न करते ही रहते हैं- जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथिवी आदि सदा घूमते और वृक्ष आदि बढ़ते-घटते रहते हैं...इत्यादि

अतः श्री स्वामी दयानन्द जी महाराज वृक्षों को अप्राणी मानते थे। शेष सत्यार्थ-प्रकाश का जो प्रकरण आप अपनी ओर से पेश करते हैं उसमें 'मिलावट' है, आपने विचार नहीं किया- क्योंकि हम क्रम आदि का टूटना तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रमाण से विरोध, इत्यादि कारण स्पष्ट कह चुके हैं। अतः आपके प्रमाणरूप से दिए गए सत्यार्थ प्रकाश के प्रकरण में 'वृक्षादि' पद मिलाया गया है, और यही प्रकरण जहाँ 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में आया है वहाँ भी मिलावट है, देखो-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ट २०५ में- (सं. १९३४ की छपी हुई-लाजरस कम्पनी बनारस का प्रेस)।

द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च।।६।।

य. अ. १९ मन्त्र ४७, इस मन्त्र के भाष्य में लिखते हैं।

(द्वे सृती.) अस्मिन् संसारे पापपुण्यफलोपभोगाय द्वौ मार्गौ स्तः। एकः पितृणां ज्ञानिनां देवानां विदुषां च, द्वितीयः (मर्त्यानाम्) विद्या-विज्ञानरहितानां मनुष्याणाम् इत्यादि।

इस भाष्य के हिन्दी अनुवाद में पण्डित भीमसेन जी ने 'दूसरा नीचमति से पशु-पक्षी, कीट, पतंग वृक्ष आदि का होना'-इत्यादि सब मिला दिया है, जिसका मूलभाष्य में नामोनिशान नहीं है, और 'सत्यार्थ प्रकाश' तथा यहाँ, दोनों स्थानों में पण्डित भीमसेन जी लिखने वाले हैं, संस्कृत श्री स्वामी जी की है। अतः आर्यभाषा में उभयत्र पण्डित

भीमसेन जी की की गई मिलावट है, अतएव अमान्य है।

श्री पंडित गणपति शर्मा जी-

'अथर्ववेद' के दोनो मन्त्रों के विषय में स्वामीजी ने कोई नया उत्तर नहीं दिया, वही पुराना उत्तर है। मन्त्र में सामान्य प्राणन् का कोई प्रकरण नहीं है, क्योंकि इस विषय में भाष्य आदि का कोई प्रमाण नहीं दिया गया तथा अन्यान्य हेतु, जो इन मन्त्रों के अर्थों के खण्डन में वाद-प्रवाह में आये उन सबका परिहार कर चुका हूँ। स्वामी जी को बताना चाहिए कि क्यों मुख्य अर्थ का परित्याग कर गौण अर्थ का आलम्बन किया जाय?

तथा जहाँ-जहाँ आप 'योनि' मानते हैं वहाँ-वहाँ जागरण आदि दशाओं की सत्ता आवश्यक मानते हैं- यह विचार आपका ठीक नहीं है, क्योंकि जागरण अवस्था उस दशा का नाम है जिस दशा में कि जीव को इन्द्रियों द्वारा पदार्थों का अनुभव होता है- सो हम आपसे पूछते हैं कि जन्म से अन्धा, बहरा या मूक (गूंगा) पुरुष अपनी आंख या कान या वाणी से किसी दशा में कोई भी अनुभव या कर्म नहीं करता, अर्थात् उस बहरे या अन्धे मनुष्य के लिए कर्ण या नेत्रकृत जागरण अवस्था कभी भी नहीं होती, एवं स्वप्न और सुषुप्ति भी तत्तदिन्द्रियविषयक नहीं होती, क्योंकि बहरा या अन्धा मनुष्य स्वप्न में कभी भी श्रवण या दर्शन रूप व्यापार नहीं करता, यह अनुभूत है। अत: जब पुरुषों के एक या दो इन्द्रियों के विषय में जागृत आदि अवस्थाओं का अभाव स्पष्ट है तो वृक्षों में भी यदि सब इन्द्रियों के न होने से, समस्त इन्द्रियविषयक जागरण आदि का अभाव हो गया तो आपको क्या आपत्ति है? जब एक योनि में, एक या दो इन्द्रिय विषयक जागरण आदि अवस्थाओं के न होने पर भी आपको वहाँ जीव की सत्ता से इन्कार नहीं, तो यदि किसी योनि में समस्त इन्द्रियों के न होने से, सकल इन्द्रिय विषयक जागरण आदि का अभाव हो जाय तो वहाँ भी आपको जीव की सत्ता से मुन्किर नहीं होना चाहिए? उस अभाव से आप क्योंकर वृक्षों में जीवाभाव सिद्ध कर सकते हैं? यदि एक स्थान में आप जागरण आदि के अभाव को जीवाभाव का हेतु (व्यतिरेकी) मानेंगे तो आपको अन्यत्र (मनुष्य आदि योनि में) भी (कतिपय-इन्द्रियाभावहेतुक)जागरण आदि के अभाव से, उतने अंश में जीवाभाव अवश्य मानना पड़ेगा-ऐसी दशा में आपका 'जीव' विकल हो जाएगा? अतएव 'अनित्य' भी आपको मानना पड़ेगा।

यदि आप यह कहें कि 'जीव के सुख-दु:ख भोगने के साधन इन्द्रियाँ ही तो हैं' जहाँ जीव के साथ वे इन्द्रियाँ ही नहीं हैं वहाँ सुख-दु:ख का भोग नहीं हो सकता। जहाँ सुख-दु:ख का भोग ही नहीं हो सकता, वहाँ जन्म लेकर जीव करेगा क्या?

सो इसके उत्तर में निवेदन है कि आपका यह विचार ठीक नहीं, आप यह समझे बैठे हैं कि 'जीवात्मा इन्द्रियों के बिना सुख-दु:ख नहीं भोग सकता' किन्तु यह ख्याल ठीक नहीं है-क्योंकि जीवात्मा स्वप्न दशा में इन्द्रिय आदि सब प्रकार की सामग्री के अभाव में भी उसी प्रकार सुख-दु:ख का अनुभव करता है, जिस प्रकार कि जागृति काल में इन्द्रिय आदि सब सामग्री की उपस्थिति में। जागरणकाल में होने वाली स्वप्नविषयिका स्मृति, इस बात की साक्षिका है एवं सुषुप्ति काल में समस्त इन्द्रियों का अभाव होता है, उस दशा में महापातकी से लेकर महापुण्यात्मा तक, महामूढ़ से लेकर महाश्रोत्रिय तक, महादरिद्र से चक्रवर्ती सम्राट तक, बच्चे से बूढ़े तक, कीट पतंगादि से तत्त्ववेत्ता महर्षि तक सब एकाकार वृत्ति में, एकसी ही दशा में हो जाते हैं और उस दशा के विषय में सबका यह (स्मृति रूप) अनुभव है कि-

सुखमहमस्वाप्सं न किं चिदवेदिषमिति-

''मैं सुखपूर्वक सोया और मुझे कुछ सुध नहीं रही'' सो महाराज! सुषुप्ति काल में सकल इन्द्रियों के अभाव में भी जैसे जीवात्मा सुख आदि को अनुभव कर लेता है इसी प्रकार तमाम इन्द्रियों के न होने पर भी वृक्ष सुख-दु:ख आदि को अनुभव कर सकते हैं। अतएव श्री मनु महाराज वृक्षों को अन्त:संज्ञ, कहते हैं, अत: यह कहना कि इन्द्रिय आदि के न होने से तथा जागृति आदि के न होने से वृक्षों में जीव नहीं है, यह बात नितांत असार है।

और सुनिए, आप यह कहते हैं कि 'जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति' रूप जीव की तीन अवस्थायें होती हैं, पर आपका यह कहना भी ठीक नहीं है। इन अवस्थाओं के अतिरिक्त, जीव की मूर्च्छा' नामिका दशा भी देखी जाती

है। मूर्च्छा को जागरित दशा में नहीं मान सकते क्योंकि जागरणकाल के समान मूर्च्छावस्था में इन्द्रियों से विषयों का कोई अनुभव नहीं होता। मूर्च्छित मनुष्य जब होश में आता है तो कहता है कि मैं इतने समय अन्धकार में अर्थात् बिल्कुल अज्ञानावस्था में पड़ा हुआ था, मुझे कुछ सुधबुध न थी तथा जागरण काल में मनुष्य अपने शरीर को थामे रहता है, किन्तु मूर्च्छित महाशय का देह भूमि पर धम से गिर पड़ता है। अत: जागरण दशा में ही मनुष्य की मूर्च्छावस्था को मानना ठीक नहीं है एवं स्वप्न में भी 'मूर्च्छा' दशा को नहीं मान सकते, तथा सुषुप्ति अवस्था में भी मूर्च्छा को नहीं मान सकते क्योंकि सुषुप्त तथा मूर्च्छित मनुष्य में बहुत भेद है। **कारणभेद**-सुषुप्ति अवस्था थकान से पैदा होती है, मूर्च्छा प्रबल आघात या विषाद से उत्पन्न होती है। **फलभेद** -सोने से थकान दूर होती है शरीर प्रकृतिस्थ हो जाता है, मूर्च्छा शरीरपात के लिए है-यद्यपि मूर्च्छा से अवश्य ही मृत्यु नहीं हो जाती तथापि बिना मूर्च्छा के मृत्यु नहीं होती। मृत्युकाल में मूर्च्छा अवश्य आ जाती है अर्थात् मूर्च्छा मृत्यु का द्वार है।

स्वरूप भेद- सोया हुआ पुरुष लगातार एक सी श्वास लेता है, उसका मुख प्रसन्न होता है, आँखें बन्द रहती हैं। हाथ से छूने या बुलाने मात्र से उठ बैठता है, होश में आ जाता है, परन्तु मूर्च्छित पुरुष मूर्च्छावस्था में एक सी साँस नहीं लेता, कभी उसका साँस बिल्कुल बन्द हो जाता है। कभी वेग से चलने लगता है कभी धीरे-धीरे। आँखों को फाड़े रखता है या वे फटी हुई रहती हैं। कभी-कभी शरीर में कपकपी होने लगती है, रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मुख पीला (फक पड़ जाता है) तथा अनेक भयानक लक्षण दिखाई देते रहते है, उसको चाहे सोटों से पीटो तो भी नहीं उठता, होश में नहीं आता। सोये हुए पुरुष को उठाने के लिए कोई भी वैद्य के पास भागा नहीं जाता, मूर्च्छित के लिए तो वैद्य को बुलाये बिना कल (चैन) नहीं पड़ती, इत्यादि अनेक कारणों से सुषुप्ति अवस्था में भी मूर्च्छा को नहीं मान सकते। अत: 'मूर्च्छा' एक स्वतन्त्र अवस्था है जो 'आयुर्वेद' में प्रसिद्ध है। समस्त जगत् में प्रख्यात है। सो महाराज! मूर्च्छित दशा में जीव के साथ कोई भी इन्द्रिय नहीं होती और मूर्च्छित पुरुष अपनी मूर्च्छा अवस्था से छूटकर कहता है कि-

अन्धेतमस्यहमेतावन्तं कालं प्रक्षिप्तोऽभूवं न किञ्चिन्मया चेतितम्,- दु:खमस्वाप्सं गुरूणि मे गात्राणि भ्रमत्यनव, स्थितं मे मन:...इत्यादि

यह अनुभव बिना इन्द्रियों के कैसे हो गया? अत: स्वप्न, सुषुप्ति तथा मूर्च्छावस्था में जैसे बिना इन्द्रिय आदि के सुख-दु:ख का अनुभव हो जाता है, इसी प्रकार 'वृक्ष' भी इन्द्रियों के बिना सुख-दु:ख आदि को भोग सकते हैं। अतएव मनु महाराज साफ लिखते हैं कि-

अन्त:संज्ञा भवन्त्येते सुखदु:ख-समन्विता:।

यदि कहा जाय कि वृक्ष योनि बुरे कर्मों का फल होने से सुषुप्ति के सदृश क्यों हुई? सुषुप्ति में तो सुख होता है बुरे कर्मों का फल तो सर्वथा दु:खरू होना चाहिए? तो हम आपसे पूछते हैं कि पापी को निद्रा क्यों आती है? निद्रा में सुख होता है-पापी उसका भागी क्योंकर हुआ? सो जैसे पापी को निद्रा में भगवान् करुणैकसिन्धु सुख देते हैं ऐसे ही वृक्षों को परमात्मा यदि सुख देते हैं तो क्या बुरा करते हैं? एवं प्रलयकाल में पापी को दु:खाभाव क्यों होता है?

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् सूत्र पर शारीरक भाष्य को आपने अपने पक्ष की पुष्टि में धरा था, वह उल्टा आपके लिए हानिकर हुआ? जब आप कोई अन्य उपाय न पाकर सूत्र के मनमाने अर्थ करने लगे, और 'अधिष्ठित' पद से बाग के अधिष्ठाता की सूझी, पर आपकी यह तर्कणा केवल असम्बद्ध है। अच्छी बात है चलिए! हाँ, क्या कहा? चेतन का चेतन भोग्य या 'भोक्ता' नहीं हो सकता। भला क्यों! लोक में नजर नहीं आता? वाह! इतनी सी बात थी। आइये! हम आपको दिखाते हैं-

मनुष्य का भोग्य बैल आदि होते हैं-अर्थात् मनुष्य उनसे काम लेते हैं। **''विशोऽन्नं राज्ञाम् नार्य्यो भोग्या: पुंसाम्- ते च तासाम्''** वैश्य या प्रजा के लोग राजाओं का भोग्य होते हैं। यह बात लोक में आबाल-गोपाल अजाविपाल (पर्यन्त) प्रसिद्ध है। अत: 'विषय' पद से जड़ ही भोग्य माने जायेंगे, यह कुछ नहीं। **अन्याधिष्ठितेषु** सूत्र का प्रामाणिक अर्थ किसी आचार्य आदि का किया हुआ लाइए-आप अपना अर्थ प्रमाणतया पेश नहीं कर सकते।

'**द्वा सुपर्णा**' मन्त्र में वृक्ष, का प्रकृति के साथ जोड़-तोड़ लगाकर, 'जड़ता की समता' के बल पर आप ललकारते हैं कि 'रूपक' नहीं बन सकता! पर महाराज! तभी तो जब आप मनमानी करते हैं! आचार्यों के अर्थ से अकारण बैर! उस पर 'रूपक' बन नहीं सकता! सबर कीजिए, बन जाएगा पहले ठीक अर्थ सुनिए, अलंकार भी हो जाएगा।

'**द्वा सुपर्णा**' का अर्थ है कि जैसे दो पक्षी पेड़ पर बैठे हों, एक फल खाता हो और दूसरा केवल उसे देखता हो, ऐसे ही (पक्षिस्थानीय) जीव और परमात्मा, 'वृक्षस्थानीय' देह पर बैठे हैं और 'जीव' देह में होने वाले (फलस्थानीय)सुख-दु:ख को (खाता है) भोगता है और परमात्मा केवल द्रष्टामात्र है-इत्यादि।

सो जैसे पक्षियों का आधार 'वृक्ष' होता है और उसे फल भोग्य होते हैं, वैसे ही जीवात्मा तथा परमात्मा का आधार रूप 'देह' है-यद्यपि परमात्मा सर्वव्यापी और स्वत: प्रतिष्ठित है, वह किसी के आधार पर नहीं रहता, तथापि यह शरीर परमात्मा का उपलब्धि स्थान है, इसमें ही परमात्मा के दर्शन होते हैं, अत: कल्पित-गौण आधाराधेयत्व भाव देह तथा परमात्मा का मानकर, श्रुति देह को परमात्मा का आधार कहती है एवं जीवात्मा शरीर में आत्माभिनिवेशता के कारण सुख-दु:ख का भोक्ता है ही। अत: उपमान और उपमेय का परस्पर आधाराधेय भावात्मक सम्बन्ध मानकर श्लिष्ट एकता सुतरां उपपन्न हैं और आप प्रात:काल के अपने तृतीय भाषण में **द्वा सुपर्णेत्यादि श्रुति** में 'वृक्ष' शब्द का अर्थ शरीर मान भी चुके हैं, पर अब अपने कथन के प्रतिकूल, आप वृक्ष के मुकाबिल असम्बद्ध प्रकृति को लाते हैं और जड़-चेतन की जुगल जोड़ी अपने सामने बिठाने का यत्न करते हैं। इसी प्रकार यदि आप समस्त धर्मों को मिलाने का प्रयत्न करेंगे तो दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक, उपमानोपमेय भाव का सर्वथा विलोप हो जाएगा। अत: जैसे 'वृक्ष' पक्षियों का आधार है वैसे ही जीवात्मा तथा परमात्मा का आधार देह है- आधारता की अपेक्षा से रूपकालंकार ठीक हो सकता है, यह बात वर्णन कर चुका हूँ और आपको भी, प्रकृति (वृक्षस्थानीया) मानकर यह 'आधारता' अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी, इसलिए 'आधारता' पर ही सन्तोष करना ठीक है-यदि आप आगे 'जड़ता' आदि धर्मों को मिलाने लगेंगे-तो हम-शाखा, पत्ते, फूल, जड़ें तथा परिमाण आदि जो कुछ भी वृक्ष में दिखाई देगा, प्रकृति के साथ मिलाना आरम्भ करेंगे और उधर पक्षियों के पंख, चोंच, पंजे, अण्डे, बच्चे, घोंसला, जीवादि के साथ सब मिलाने पर बाध्य करेंगे, पर आप नहीं मिला सकेंगे-अत: 'आधारता' पर ही सब्र करना ठीक है। अन्यथा बताइए, समान प्रकरण की 'ऋतं पिबन्तौ' 'श्रुति' के, '**गुहां प्रविष्टौ**' में ये 'गुहा' पद से प्रकृति की क्या समता होगी? अत: शास्त्र के स्वकपोलकल्पित अर्थों को छोड़ कर किसी प्रामाणिक अर्थ के बल पर बात कहिए-आप अपना ही अर्थ प्रमाणतया पेश नहीं कर सकते। अत: प्रकृति जड़ है 'वृक्ष' भी जड़ हैं, यह बात सर्वथा निराधार है, असमञ्जस है, एवं जो प्रकरण हमने "**ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता:, ऋतं, अवश्यं भाव कर्मफलं, पिबन्तौ भुञ्जानौ, सुकृतस्य कर्मणो, लोके कायदेहे परस्य ब्रह्मणऽर्धस्थानमर्हतीति परार्धं हृदयं परमं श्रेष्ठं तस्मिन्या गुहा तमोरूपा बुद्धिरूपा वा तां छाया प्रविष्टौ स्थितौ छायातपनत् मिथो संबद्धौ तौ च ब्रह्मविद: कर्मिण: वदन्ति। त्रिर्नाचिकेतोऽग्निचितो यैस्ते त्रिणाचिकेता ते वदन्तीत्यर्थ:। नाचिकेत वाक्यानामध्ययनं तदर्थज्ञानं तदनुष्ठानं चेति त्रित्वं बोध्यम्**" छान्दोग्योपनिषत् का पेश किया, उसका कोई उत्तर नहीं दिया गया।

तथा '**परिभाषेन्दु शेखर**' की **सर्वोद्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति**- ३४ वीं परिभाषा के व्याख्यान में **श्री नागोजी** भट्ट लिखते हैं-

तिष्यपुनर्वस्वोरितिसूत्रस्थं बहुवचनस्येतिग्रहणमस्या ज्ञापकं तद्धीदं तिष्यपुनर्वस्वित्यत्र तद्व्यावृत्यर्थम् नचैवमप्यत्र जातिरप्राणिनामिति नित्यैकवद्भावेन बहुवचनाभावादिदं सूत्रं व्यर्थमिति वाच्यम्। आपोमय: प्राणइति श्रुतेरद्भीर्विनाग्लायमान प्राणानामेव प्राणित्वात्-स्पष्टच्चेदं तिष्यपुनर्वस्वोरितिसूत्रे भाष्ये।

इस परिभाषा में श्रीमन्महामहोपाध्याय श्री नागो जी भट्ट '**आपोमय: प्राण:**' इस श्रुति का प्रमाण देकर, प्राण का लक्षण करते हैं कि **अद्भिर्विनाग्लायमानत्वं प्राणत्वम्**

जो जल के बिना मुर्झा जाय या नष्ट हो जाय, उन्हें प्राण कहते हैं, सो वृक्षों को यदि जल न मिले तो सूख जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं अत: वे प्राणी हैं। प्राण बिना जीव के नहीं रह सकते **अथैनं क्रामन्तं सर्वे प्राण उत्क्रामन्ति** और **नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम्** तथा **जानपदकुंड** इत्यादि सूत्रस्थ 'नील' शब्द पर **प्राणिति च वार्तिक में मुखनासासञ्चारी** वायु को प्राण माना है अत: **तिष्यपुनर्वस्वोरित्यादि** सूत्र से विरोध नहीं है। अब यह बात सिद्ध हुई कि श्रीमन्महामुनि श्री पतञ्जलि जी महाराज भी वृक्षों में अभिमानी जीव को मानते हैं।

सत्यार्थप्रकाश तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के विषय में आप जो जो कल्पनाएँ करते रहे हैं, उनका एक-एक करके खण्डन कर चुका हूँ। आप उसका कुछ परिहार नहीं करते-अत: स्वामी जी! श्री स्वामी दयानन्द जी के लेख से वृक्षों में अभिमानी जीव का अभाव आप किसी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकते। **'द्वे सृति'** मन्त्र के प्रकरण को लेकर, जो आप पण्डित भीमसेन जी द्वारा की गई मिलावट बता रहे हैं -इसमें क्या प्रमाण है कि पण्डित भीमसेन ने मिलावट की है? ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा सत्यार्थप्रकाश में जो कुछ लेख है, वह अक्षरश: स्वामी जी का है, चाहे संस्कृत हो या आर्य भाषा हो। जब उनके नाम पर सब किताबें छपती हैं तो क्योंकर मान लिया जाय कि मिलावट है? जो श्री स्वामी दयानन्द महर्षि तमाम अवैदिक मन्त्रों के जाल का समूलोच्छेदन करने वाले थे, वे अपने रचित पुस्तकों में इतने गाफिल थे कि लेखक लोग जो चाहें मिला दें या निकाल दें। इस बात को कौन बुद्धिमान् मनुष्य मान लेगा। संस्कृत तथा आर्य भाषा में श्री स्वामी जी ही भाष्यकर्त्ता हैं-आवश्यक नहीं है कि जो अक्षर संस्कृत में लिखें वही हूबहू भाषा में लिखें। वे किसी स्थल में विशेष व्याख्यान की अपेक्षा से अधिक भी लिख सकते हैं तथा संस्कृत और आर्यभाषा के लेखक्रम भिन्न-भिन्न होने से नये ढंग पर भी बात लिखनी पड़ती है। हाँ, जो आप परस्पर विरोध दिखाते हैं उस सबका परिहार कर चुका हूँ। उसका प्रतिपरिहार आपके पास कुछ नहीं है। अत: ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा सत्यार्थप्रकाश के विवाद प्रसाद को किसी नई तर्क भूमिका पर उठाइये। बार-बार वही बात आपके पक्ष को थोथा किये जा रही है।

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी-

'द्वा सुपर्णा' मन्त्र में जीव-ब्रह्म दो पक्षियों के समान हैं-क्योंकि चेतनता समान धर्म से पक्षी तथा जीव ब्रह्म युक्त हैं-उधर वृक्ष तथा प्रकृति के जड़ होने से समता है अत: 'वृक्ष' जड़ है। क्योंकि वेद 'पुनरुक्ति' आदि दोषों से रहित हैं, यदि यहाँ वृक्ष को जड़ न मानेंगे तो 'प्रकृति' से समता न हो सकेगी अत: 'जाति दोष' वेद में आयेगा उसकी निवृत्ति के लिए वृक्षों को जड़ मानना चाहिए यह बात युक्तियुक्त भी है अन्यथा चेतनता की प्रतीति के न होने पर भी यदि आप वृक्षों में जीव मानेंगे तो मेज आदि वस्तुओं में भी 'जीव' मानना पड़ेगा।

मूर्च्छा नाम मनसो विचलितावस्था - मन की विचलितावस्था का नाम मूर्च्छा है-वृक्षों में मूर्च्छा नहीं है-क्योंकि मूर्च्छा जागरण आदि की अपेक्षा से होती है-जब जागरण आदि अवस्थाएँ ही वृक्षों में नहीं तो मूर्च्छा भी नहीं हो सकती। जाग्रत अवस्था से पृथक् मूर्च्छा कोई अवस्था नहीं है। यदि मूर्च्छा पृथक् कोई अवस्था होती तो जागरणादि के समान सब मनुष्यादिकों में नियमानुसार और प्राय: प्रतिदिन होती-परन्तु ऐसा है नहीं- और वीतराग पुरुषों में तो मूर्च्छा होती नहीं-अत: वृक्षों में जब योनि ही नहीं तो मूर्च्छा कैसे हो सकती है? अतएव मन की विचलितावस्था रूप मूर्च्छा भी वृक्षों में नहीं हो सकती एवं वैशेषिकदर्शन में वृक्षों को 'विषय' अर्थात् भोग्य माना है- भोग्य भोक्ता नहीं हो सकते।

सत्यार्थप्रकाश में, **कुर्वन्नेवेह कर्माणि**...मन्त्र के अर्थ में वृक्षों की गणना जड़ों में की है-

'भोग्य' नाम चेतनावसान का है सो चेतनता के न होने से भोग्य है। भोक्ता नहीं हो सकते। भोग्य ही भोक्ता नहीं हो सकता। 'आत्माश्रय' दोष होगा-आप ही अपने कन्धे पर कोई कैसे बैठ सकता है? और न अपेक्षाकृत हो सकते हैं-क्योंकि वृक्षों को भोक्ता मानकर किसी अन्यपुरुष आदि का भोग्य मानने से 'जीव-हिंसा' जायज माननी पड़ेगी। जहाँ यह कहा जाता है कि न्यून बुद्धि वाले अधिक बुद्धि वालों के भोग्य होते हैं, वहाँ गौणतया भोग्य से अभिप्राय है, क्योंकि सेवा आदि कराते हैं-क्या स्वामी, दास को मुख्यतया

ही निगल जाता है? जैसे कि-

''अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि, हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम्। प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात्क्रविष्णुर्विचिनोतु वृक्णम्''। (ऋ. १०-८७-५) में चिदवसान भोग्य (तथा उपचार प्रायेण) से तात्पर्य यह है। क्योंकि 'क्रव्याद' उस अग्नि को कहते हैं जो मुरदे को खा जाता है- अर्थात् जो शव को जला देता है क्योंकि मुख्यतया हमारे समान आग मुरदे को नहीं खाती।

श्री पंडित गणपति शर्मा जी

अथर्ववेद के दो मन्त्र तथा छान्दोग्योपनिषत् के प्रमाण से यह बात कह चुका हूँ कि वृक्षों में जीव है। **'द्वा सुपर्णा'** इत्यादि श्रुति के यदि आप प्रामाणिक अर्थ नहीं मानते और स्वकल्पित अर्थों पर ही जिद करेंगे तो, आपका अर्थ ही ठीक है-इसे हम क्योंकर मान लें? मैं कहता हूं कि यहाँ 'तोता और मैना' रूप दो पक्षियों से अभिप्राय है- आप इसका खण्डन कीजिए? बिना किसी प्रकरण आदि के अर्थ का निर्णय नहीं हो सकता, आप प्रकरणानुसार अर्थ की संगति ठीक कीजिये और इस अर्थ में हेतु दीजिए- केवल पक्ष-घोषणा से पक्षसिद्धि नहीं हो सकती।

आप कहते हैं कि 'वृक्षों में जीव नहीं है क्योंकि शास्त्र आदि का प्रमाण नहीं है अतः मूर्च्छा भी नहीं हो सकती'- मैं पूछता हूँ-क्या अथर्ववेद और छान्दोग्य और मनुस्मृति शास्त्र नहीं है? क्या आपने इन प्रमाणों का कुछ खण्डन किया? यदि नहीं तो फिर क्योंकर आप कहते हैं कि 'शास्त्र का प्रमाण नहीं है।' आप मूर्च्छा के लिए जागरण आदि की अपेक्षा को आवश्यक बतलाते हैं-परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि वृक्षों में जन्म से ही मूर्च्छा है वह एक जन्म-रोग के समान है। तथा 'मूर्च्छा' को आप जागरण अवस्था के अन्दर मानते हैं-अर्थात् जागरण अवस्था से भिन्न विशेष अवस्था उसे नहीं मानते, पर यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जागरणकाल में इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होता है- 'मूर्च्छा' में नहीं होता। आपके पक्ष में कोई प्रमाण भी नहीं है-अतः मूर्च्छा का जागरण में अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

तथा वृक्षों का सजीव होना हम शास्त्र से सिद्ध कर चुके हैं- और मूर्च्छा तो वृक्षों में स्पष्ट सी प्रतीत होती है। जब अन्धे या बहरे पुरुष में एक या दो इन्द्रिय विषयक-जागरणाद्यभाव साफ जाहिर है और अन्धे या बहरे में जीव के न होने में आपको कोई शिकायत नहीं होती, किन्तु जीव को आप मानते हैं, तो फिर वृक्षों में समस्त-इन्द्रियाभाव निमित्तक-जागरणाद्यभाव दशा में क्यों नहीं जीव को मानते?

यह कोई नियम नहीं है कि भोक्ता चेतन ही हो और भोग्य जड़ ही हो। देखिये स्वामी और सेवक दोनों चेतन हैं- पर भोक्ता और भोग्य हैं। शेर हरिणों को खाता है, यहाँ भी भोक्ता और भोग्य चेतन हैं। पुरुष अन्न को खाता है यहाँ भोक्ता चेतन और भोग्य जड़ है। मर्दुमखोर पेड़ मनुष्यों को खा जाते हैं यहाँ आपके मत से जड़ वृक्ष भी चेतन मनुष्य को खा जाते हैं। अतः आपके मतानुसार भोक्ता और भोग्य की व्यवस्था नहीं हो सकती।

शेष रहा कि यदि वृक्षों में जीव है तो उनके काटने से हिंसा होगी, यह ठीक नहीं क्योंकि **बाधनालक्षणो धर्मो हिंसा** होती है-वृक्षों को काटने से बाधा (पीड़ा) नहीं होती, यह बात प्रत्यक्ष है, देखो! अंगुली के कटने से सारे शरीर में दुःख होता है और अंगुली कटकर सूख जाती है अर्थात् जीते हुए शरीर से सम्बन्ध रखते समय जो बात अंगुली में होती है वह कटने पर नहीं रहती, किन्तु कली (कोरक-शिगूफा) को डण्डी से तोड़कर अलग धर दो, सायंकाल की तोड़ी हुई प्रातः तक खिल जायगी तथा पेड़ में कोई पीड़ा आदि की प्रतीति भी नहीं होती। यदि पीड़ा होती तो अन्य शाखाओं पर भी फूल न खिलते। अतः कटने पर वृक्षों में दुःख नहीं होता। दुःखाभाव से तात्पर्य वृक्षरूपी-शरीरनिमित्तक दुःखाभाव से ही है- **पूर्वजन्म दुष्कृतमनः सन्तापात्मकक्लेशः** तो होता ही है अतएव मनु जी ने **सुखदुःखसमन्विताः** कहा है।

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी

वृक्ष को यदि योनि माना जायगा तो वह बुरे ही कर्मों का फल होंगी, यदि वृक्षों को उनके शरीर सम्बन्ध से कोई दुःख नहीं होगा तो पाप का फल वृक्षों को दुःख भी न हो सकेगा, अतः पाप का फल दुःख भी अवश्य आपको वृक्षों में मानना चाहिए-ऐसी दशा में वृक्षों को काटने से हिंसा अवश्य होगी। शास्त्रों से वृक्षों में जीव का बताना 'साध्यसम' है-

न हि साध्यसमो हेतुः सिद्धौ साध्यस्य युज्यते

-(गौड़पादीय.)

आप कहते हैं कि 'जीव' अविद्योपाध्युपहित है किन्तु यह ठीक नहीं, सब के मत में कार्य्योपाध्युपहित है। अतः वेदों में कार्योपाध्युपहित जीव माना गया है। अनुमान बिना दृष्टान्त के नहीं हो सकता-**अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति व**-(गौड़पादीय.) किसी वृक्ष में जीव को पहले सिद्ध कर लीजिए-तब शास्त्र के प्रमाण से सुख-दुःख आदि का निर्णय कीजिये। जीव जैसे-जैसे कार्य करता है वैसे-वैसे शरीर को धारण करता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं कि जीव किन्हीं कर्मों से वृक्षों में जन्म लेता है, तथा उनमें किसी ने आज तक मूर्च्छा नहीं देखी-प्रत्यक्ष आदि का अभाव इस विषय में स्पष्ट है। मूर्च्छा के होने का काल बताना चाहिए? रोग में वृद्धि तथा ह्रास भी तो होता है-मूर्छित मनुष्य में भी कभी मूर्च्छा बढ़ जाती है, कभी घट जाती है-वृक्षों में ऐसा कहां है? वृक्षों में मूर्च्छा **की** वृद्धि तथा न्यूनता में कोई प्रमाण देना चाहिए। संखिया मनुष्य को नहीं मारता किन्तु संखिया का खाना मारता है-वृक्ष नहीं मारता किन्तु वृक्ष से गिरना मारता है अतः 'जड़' भोक्ता नहीं हो सकता, भोग योनि के लिए नियम चाहिए।

मूर्च्छा कोई पृथक् दशा नहीं है-'**आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा**'-(गौड़पादीय.) जिस वस्तु का आदि और अन्त नहीं होता वह वर्तमान में भी नहीं होती- मूर्च्छा अपने काल से पहले न थी-किन्तु जागरणावस्था थी, स्वकाल के पश्चात् भी नहीं होती प्रत्युत जागरण अवस्था ही होती है, अतः आद्यन्त में जागरणावस्था के होने से मध्य में भी 'जागरण' अवस्था ही थी शेष रही। यह शंका कि यदि मध्य में भी 'जागरण' ही है तो अब के समान मूर्च्छा में ज्ञान (इन्द्रियजन्य) क्यों नहीं होता? सो साफ जाहिर है कि मन की 'चञ्चलता' में ज्ञान नहीं होता, मूर्च्छा में भी मन चञ्चल होता है अतएव ज्ञानाभाव है। यह नहीं कि जागरणाभाव के कारण ज्ञानाभाव हो गया, क्योंकि ऐसा प्रायः होता है कि जिस काल में मन पर कोई आभास नहीं होता तो 'मूर्च्छा' हो जाती है। शास्त्रों में 'मूर्च्छा' कोई अलग अवस्था नहीं मानी गई। आयुर्वेद में भी अवस्था नहीं मानी गई- 'रोग' माना गया है।

तथा वृक्षों में आप जन्म की मूर्च्छा बताते हैं? यह ठीक नहीं है क्योंकि जन्म काल में हर एक प्राणी जगता हुआ पैदा होता है-सोता हुआ या मूर्च्छित या स्वप्न दशा में कभी पैदा नहीं होता। यह बात सुस्पष्ट है फिर दृष्टान्ताभाव में आप अन्तःसंज्ञ, कैसे कह सकते हैं? पहले युक्ति द्वारा वृक्षों में जीव की सत्ता सिद्ध कर लो-तदनन्तर मनुस्मृति के 'अन्तःसंज्ञत्व' पर भी विचार हो लेगा-अन्यथा मनुस्मृति आदि 'साध्यसम' होने से किञ्चित्कर होंगे और संसार में वृक्षों में जीव के साथ व्याप्तिग्रह न होने से जीवाभाव सर्वसाधारण में प्रख्यात है। अतः वृक्षों में कोई जीव-जाव नहीं है। और असहाया मनुस्मृति कैसे प्रमाण मान ली जाय? क्योंकि वेदमूलकस्मृति ही प्रमाण हुआ करती है। स्मृतियों में मिलावट हो सकती है।

श्री पण्डित गणपति शर्मा जी-

जिस प्रकार मनुष्यों में बाह्यबुद्धि होती है अर्थात् बाहर की ओर इन्द्रियों के व्यापार से प्रत्यक्षादि का ग्रहण जैसे मनुष्य आदि करते हैं, वैसे वृक्षों में नहीं किन्तु अन्तःकरण से सुख-दुःख को अनुभव करते हैं। अतः अन्तःसंज्ञ हैं, यह मनुस्मृति निर्मूल नहीं है। अथर्ववेद के दो मन्त्र तथा छान्दोग्योपनिषद् से वृक्षों में जीव का होना सिद्ध कर चुका हूँ तथा अन्तःसंज्ञता वेदानुकूल होने से (परतः) प्रमाण है, इस बात को श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज भी मानते हैं फिर भी आप युक्ति से सिद्ध हो तो शास्त्र को मानेंगे नहीं, तो शास्त्र साध्यसम ही रहेगा-इसके क्या मानी, ऐसा मानने से वेदादिशास्त्र प्रत्यक्षानुमानादि के अधीन होने के कारण स्वतः प्रमाण न रहेंगे। वेद-विरुद्ध आपका तर्क कुछ नहीं कर सकता, अतः वेदानुकूल तर्क हम कर रहे हैं-आपको वह माननीय होना चाहिए। अन्तःकरणोपाधि से कार्योपाधि अभिप्रेत है तथा प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियजन्यत्व होने का नियम नहीं हैं। इन्द्रियभाव में परमात्मा को ज्ञान कैसे हो जाता है? तथा बेटे के जन्म की खुशी किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है- पर प्रत्यक्ष अनुभूत है और सब किसी को होती है। अन्धेरे का प्रत्यक्ष बिना इन्द्रियों के कैसे हो जाता है। अन्धेरा भावरूप नहीं- क्योंकि प्रकाश के आने पर नहीं रहता,अभाव रूप भी नहीं-क्योंकि प्रतीत होता है, फिर आँख के अन्धे होने के कारण अन्धकार कैसे

प्रत्यक्ष हो जाता है तथा भारीपन किस इन्द्रिय से ग्रहण होता है। भारीपने को सभी अनुभव करते हैं अत: बिना इन्द्रियों के भी अनुभव हो सकता है-एवं भोक्ता-भोग्यादि की भी कोई व्यवस्था नहीं है, यह बात पहले स्पष्ट कह चुका हूँ। मूर्च्छा को जागरणावस्था नहीं मान सकते-'**आदावन्ते च**, इत्यादि सृष्टि के सम्बन्ध की बात है, यदि यही नियम है, तो सुषुप्ति भी जागरण है'-क्योंकि सुषुप्ति के आदि और अन्त में जागरण होता है-तो मध्य में भी जागरण होना चाहिए-एवं जागरण भी सुषुप्ति होना चाहिए यह क्या बात हुई? सृष्टि से पूर्व भी प्रलय था, अन्त को भी प्रलय होगा, अत: अब भी प्रलय है? इसे कौन मान लेगा? (श्रोतागणों में चारों और सन्नाटे का आलम...)

तथा मूर्च्छाकाल में मन विचलित नहीं होता, इसे सब जानते हैं। प्रत्युत् सुषुप्ति के समान विशेष बाह्य पदार्थों का ज्ञानाभाव होता है। 'क्लोरोफॉर्म' से मूर्च्छित कर तजुरबा किया जा सकता है-अत: मूर्च्छा में मन की चंचलता के विषय में कोई प्रमाण नहीं है-स्वतन्त्र तथा उच्छृंखल तर्कना को छोड़कर शास्त्रानुकूल तर्क कीजिए-'साध्यसम वेद हैं' इस बात पर विचार कीजिये-

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज-

जब आप वृक्षों को मूर्च्छित मानते हैं और मूर्च्छा दशा में ज्ञान का अभाव मानते हैं-तो वृक्षों को भी ज्ञान नहीं होना चाहिए, परन्तु आपके कथन में 'व्याघातदोष' है।

किसी वस्तु का प्रत्यक्षादि-अनुभव, अंत:करण तथा इन्द्रियों के बिना नहीं हो सकता। अन्धेरे का प्रत्यक्ष भी चक्षु से होता है-

यद्गुणो येनेन्द्रियेण गृह्यते तन्निष्ठाजातिस्तदभावश्च तेनैव गृह्यते

इस नियम से प्रकाशाभाव या तेजोऽभाव रूप अन्धेरा आँख से ही ग्रहण होता है- क्योंकि प्रकाश को नेत्र ही ग्रहण करता है। तथा मूर्च्छाकाल में मन चंचल ही होता है, क्योंकि मकान की छत से गिरते समय मन चंचल तथा विकल हो जाता है-अत: मूर्च्छा से पहले मन का चंचल होना अनुभवसिद्ध है, तथा मूर्च्छा के पश्चात् भी मन की विकलता स्पष्ट है-अत: यह सिद्ध हुआ कि मूर्च्छा काल में भी मन चंचल होता है। यह क्यों मान लें कि वृक्ष अन्त:करणोपाधि से युक्त हैं, इसमें क्या दलील है। युक्ति के बिना किसी बात का निर्णय नहीं हो सकता 'मद्याजी' गीता का अर्थ युक्ति के बिना कैसे निर्णीत हो सकेगा? मूर्च्छित वृक्ष अन्त: सुखादि को कैसे ग्रहण कर सकेगा? क्योंकि मूर्च्छा में आप ज्ञानाभाव मानते हैं। यही 'व्याघात' दोष है।

'हरक़ते-इरादी', चेतन का धर्म है- यदि वृक्षों में हरक़ते-इरादी (विशेष गति-इच्छापूर्वक प्रवृत्ति) हो तो वहाँ चेतन माना जा सकता है-परन्तु वृक्षों में केवल 'हरक़ते-इन्तजामी,' (सामान्यगति) ही पाई जाती है, अत: वृक्षों में जीव नहीं है। [भाष्याचार्य पण्डित हरनामदत्त शास्त्री जी ने कहा कि 'सामान्य बिना विशेष के हो नहीं सकता'।]

एक प्रकार की क्रिया सामान्यकारण की द्योतक है। यह वृक्षों में प्रसिद्ध है-अत: वृक्षों में हरक़ते-इन्तज़ामी है। हरक़ते-इरादी नहीं। अतएव वृक्ष जड़ हैं-क्योंकि ईश्वर की हरक़ते-इन्तज़ामी से उनके उत्पन्न होने, बढ़ने और फूल-फलकर सूख जाने का जैसा नियम बाँधा गया है उसी के अनुसार उनकी अवस्थाएं बदल-बदल कर रह जाती हैं-कोई ऐसी बात वृक्षों में नहीं पाई जाती जिससे यह निर्णय किया जा सके कि वृक्षों में हरक़ते-इरादी भी है, अत: वृक्ष जड़ हैं। दु:खादि स्वसंवेद्य हैं, औरों को क्या खबर कि अमुक पुरुष को दु:ख हो रहा है या नहीं 'जिस तन लागे सोई जाने'। यह बात सर्वसाधारण में प्रसिद्ध है-अत: 'वृक्षों को सुख-दु:ख होता है' इसमें क्या प्रमाण है?

श्री पंडित गणपति शर्मा जी

यदि मूर्च्छा काल में या मन की चंचलता में सुख या दु:ख का होना आवश्यक है-तो इसमें अनुभव का आकार आप बताएँ, मुझसे क्या पूछते हैं। मैं तो मूर्च्छा में (बाह्य) ज्ञान का अभाव मानता हूँ-ज्ञान आप मानते हैं, क्योंकि जागरणावस्था में ही मूर्च्छा का अन्तर्भाव करते हैं, प्रमाण उल्टा मुझसे मांगते हैं। जब आप मूर्च्छा में ज्ञान मानते हैं तो आपको बताना चाहिए कि मुझे? ऐसा पूछना आपका 'वदतोव्याघात' है और मैं जो मूर्च्छा में ज्ञान का अभाव मानता हूँ, वह विशेष ज्ञान का अभाव मानता हूँ-अर्थात् मूर्च्छित को बाह्येन्द्रियों से होने वाला ज्ञान नहीं होता, सामान्य ज्ञान तो होता ही है, क्योंकि मूर्च्छित पुरुष मूर्च्छा से छूटकर

कहता है कि **अन्धेतमस्येतावन्तम् कालं प्रक्षिप्तोऽभूवम्, न मया किंचिच्चेतितम्** इत्यादि स्मृति मूर्च्छाकाल के अनुभव की साधिका है। ऐसे ही वृक्षों को अनेक जन्मकृत-सुकृत दुष्कृतों के कारण से बहुत सन्ताप तथा सुखलव होता ही रहता है। वृक्षों को शरीर निमित्तक वेदना नहीं होती, यह बात युक्तिपूर्वक मैं पहले कह ही चुका हूं।

चेतन का लक्षण आप 'हरकते-इरादी' अर्थात् जो करने, न करने या अन्यथा करने में समर्थ हो, करते हैं- किन्तु यह ठीक नहीं है मुक्तावस्था में जीव जड़ है या चेतन? यदि जड़ मानोगे तो चेतन का जड़ होना असम्भव है-यदि चेतन है तो बताइये उसकी 'हरकते इरादी' मुक्तावस्था में क्या काम करती है? यदि केवल सुख भोगता है तो सुख को तो आप स्वसंवेद्य मानते हैं, परसंवेद्य तो सुख आपके मत में हो ही नहीं सकता, फिर क्या दलील है कि मुक्ति में सुख होता है?

हम तो यह मानते हैं कि स्वसंवेद्य भी चेष्टादि से परसंवेद्य हो जाता है। एक पुरुष दूसरे की ज्ञान इच्छादि को जान जाता है। योगी तो दूसरे के मनोगत को दूर से जान जाते हैं-संसार में कोई बात भी केवल परसंवेद्य नहीं रह सकती, जब 'तिनके' से लेकर ईश्वर तक के ज्ञान से मुक्ति होती है तो स्व-परसंवेद्य का क्या कहना? **एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं स्यात्**। एक परमात्मा के ज्ञान से जैसे सबका ज्ञान हो जाता है, ऐसे ही परसंवेद्य, स्वसंवेद्य हो जाता है। वेदविरुद्ध कणाद का प्रमाण कुछ नहीं कर सकता, हमने वेदों के तथा वेदानुकूल अन्यान्य प्रमाण दिये, उनका कुछ उत्तर आपने नहीं दिया।

आर्षं धर्म्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।।

(मनुस्मृति)

आस्तिकों के यहाँ वेदशास्त्रविरुद्ध किसी का वचन प्रमाण नहीं माना जा सकता, शास्त्रविरुद्ध तर्क हम प्रमाण नहीं मानेंगे **तर्काप्रतिष्ठानात्** भोक्तृ-भोग्य-विषयक-व्यवस्था में जो विचार हमने दिए थे, उनका कुछ उत्तर नहीं हैं, मूर्च्छाकाल में मैं मनुष्य में दुःख मानता हूँ, आपको दुःख नहीं तो सुख ही मानना चाहिए। अन्यथा उभयाभाव में मूर्च्छित मनुष्य जड़वत् (पाषाण सा) आपको मानना होगा?

श्री स्वामी दर्शनानन्द जी

'पारिभाषेन्दु' आदि के प्रमाण ठीक नहीं हैं, क्योंकि नागेश ऋषि नहीं थे। 'शेखर' तो काकभाषा है। छान्दोग्य के प्रमाण में 'वृक्ष' शब्द का अर्थ 'शरीर' है। 'शाखा' से अभिप्राय 'अवयव' से है-क्योंकि वहाँ 'म्रियते' पद आया है- 'मरना' शब्द का प्रयोग वृक्षों के लिए नहीं आता। कालिदास तथा मल्लिनाथ का प्रयोग प्रमाण नहीं हो सकता **'कवयः किन्न जल्पन्ति'**? (इस वाक्य के सुनते ही सभा में हंसी...) लौकिक प्रयोग शास्त्र के अर्थ करने में निर्णायक नहीं हो सकते। किसी आर्ष प्रमाण से सिद्ध कीजिए।

'अथर्ववेद' के दोनो मन्त्रों का पण्डित भीमसेन का किया अर्थ प्रमाण नहीं माना जा सकता। किसी ऋषि का भाष्य उन मन्त्रों पर पेश कीजिए तो विचार किया जा सकता है। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' तथा 'सत्यार्थप्रकाश' में विरोध होगा, यदि वृक्षों में जीव माना जाएगा। आपने उस विरोध का कुछ परिहार नहीं किया, श्री कणाद महर्षि के प्रमाण का आपने कुछ समाधान नहीं किया। जागरण-दशा में अवश्यमेव सुख या दुःख का अनुभव हो, इस बात का नियम नहीं है, क्योंकि जब चित्त सर्वात्मना किसी वस्तु में आसक्त होता है तो उस समय सुख या दुःख कुछ नहीं होता एवं अत्यन्त चंचलता में भी कुछ ज्ञान नहीं होता, 'परसंवेद्य' के स्वसंवेद्य होने में भी तो कोई प्रमाण चाहिए? वृक्षों को सुख या दुःख होता है, इस विषय में क्या प्रमाण है? अतः वृक्षों के मूर्च्छितावस्था में मानने से अन्तःसंज्ञता या सुख-दुःख समन्वितत्व का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता और इन सबके अभाव में वृक्ष सजीव हैं यह भी नहीं कह सकते। अतः वृक्षों में 'अभिमानी जीव' का मानना भ्रान्तिमात्र है तथा ईश्वर मनोरूप इन्द्रिय से जाना जाता है। गुण से गुणी का अनुमान किया जाता है, क्रिया से क्रियावान् का अनुमान किया जाता है अतः सृष्टि के निरीक्षण से जो परमात्मा का अनुमान किया जाता हैं, वह मन से ही तो किया जाता है? अतः ईश्वरादि परसंवेद्य नहीं हैं। संसार में धोखा इसीलिए होता है कि मनुष्य परसंवेद्य को नहीं जान सकता, यदि परसंवेद्य, स्वसंवेद्य हो जाया करे तो कभी कोई धोखा न खा सके। अतः वृक्षों को ज्ञान होता है, यह बात तब तक नहीं मानी जा सकती, जब तक कहीं

व्याप्तिग्रह न हो। बस वेद, स्मृति और युक्ति से किसी प्रकार भी वृक्षों में अभिमानी जीव का होना सिद्ध नहीं हो सकता।

[स्वामी जी के भाषण के अनन्तर ही एक ओर से झटपट यह शब्द सुनाई दिये कि अब 'शास्त्रार्थ' बन्द हो जाना चाहिए, बहुत सी खलकत कांगड़ी से यहाँ लौटकर आई है और स्वामी जी के व्याख्यान को सुनने के लिए समुत्कंठित है, बहुत 'हाँ हाँ, ना ना'' के कोलाहल के पश्चात् यह निश्चित हुआ कि अबकी बार पण्डित गणपति शर्मा जी बोल लें, उसके पश्चात् (चूंकि भाषण का अन्त्यावसर स्वामी जी का था।) यदि स्वामी जी चाहें तो उत्तर देकर अपना व्याख्यान आरम्भ कर दें। परन्तु स्वामी जी ने पण्डित जी के पश्चात् व्याख्यान ही दिया। यह इसलिए नहीं कि उत्तर नहीं दे सकते थे, प्रत्युत् इसलिए कि व्याख्यान सुनने के लिए लोग बहुत उन्मनस्क हो रहे थे, शास्त्रार्थ को भावी वर्ष पर बड़े समारोह से करने के लिए मुलतवी किया। परन्तु शोक कि श्री पण्डित जी दागे-मुफारकत दे गए। नहीं तो आगामी वर्ष श्री पण्डित आर्यमुनि जी आदि के साथ भी उनके शास्त्रार्थ होते, जो कि बड़े मार के होते। परन्तु शोक कि अब वह तर्कचूड़ामणि व्याख्यानवाचस्पति स्वर्ग में बुध और बृहस्पति की प्रतिभा-परीक्षा के लिए इस अवध मानवलोक को छोड़कर सिधार गए।-पं. पद्मसिंह शर्मा]

श्री पण्डित गणपति शर्मा जी का स्वपक्षोपसंहार- मेरी ओर से दो मन्त्र अथर्ववेद के, छान्दोग्योपनिषद् (शांकर भाष्य) मनुस्मृति महाभाष्य तथा ब्राह्मण प्रामाण्योपजीवक श्री नागेश रचित परिभाषेन्दु शेखर के प्रमाण वृक्षों में 'अभिमानी जीव' के प्रतिपादक पेश किये गए एवं सत्यार्थप्रकाश तथा मल्लिनाथ आदि के प्रमाण भी दिए गए, जो सब-के-सब वेदानुकूल होने के कारण उपादेय हैं। वेदमन्त्रों के अर्थ जब तक कोई दोष नहीं बताया जाय, तब तक वह हेय नहीं हो सकता, सत्यार्थप्रकाश के साथ जो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का विरोधाभास दिखाया गया, उसका भी निराकरण कर दिया, प्रमाण सम्बन्धी जो अन्यान्यप्रकरण प्रवाहपतित काकभाषा आक्षेप हुए, उन सबका संक्षेप-विक्षेपपूर्वक यथार्थ परिक्षेप किया गया। परिभाषेन्दु शेखर काकभाषा में नहीं है- हाँ, यदि उसमें नवीन न्याय की फक्किकाँओं का समावेश किया जाय तो बेशक काकभाषा हो जाती है। वस्तुतः यह ग्रन्थ महाभाष्यान्तः प्रतिपादित परिभाषाओं का एक गुटका है जो नागेशभट्ट महामुनि पतंजलि महाराज की उक्ति के बिना एक शब्द भी प्रमाण नहीं मानते, उनके ग्रन्थ को काकभाषा कहना सज्जनजनविगर्हित है। फिर आप नियमानुसार जब तक उनकी उक्ति का खण्डन नहीं करते, केवल काकभाषा कहकर टालने से विद्वत्तोष नहीं कर सकते। प्राणी-अप्राणी शब्द निर्णय व्याकरण से ही होगा- 'जीव धातु' प्राणन् रूप अर्थ में आता है, इससे यह बात स्पष्ट है कि 'प्राण' तथा 'जीव' पयार्यवाची शब्द है, तो वेदों में, वृक्षों में, प्राण का कहना जीवन की संज्ञा का निर्णायक होगा,- इत्यादि सब युक्तिपूर्वक कहा जा चुका है- 'वृक्ष' शब्द का अर्थ'

विप्रो वृक्षस्तस्य मूलञ्च संध्या, वेदाः शाखा धर्मकर्माणि पत्रम् तस्मान्मूलं यत्नतो रक्षणीयं, छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्।।

इस (वृद्धचाणक्य) के अनुसार सर्वत्र गौण नहीं किया जा सकता। नहीं तो ''द्वा सुपर्णा'' में आपका रूपकालंकार न बन सकेगा। अतः प्रकरण आदि की व्यवस्था से- लोक, व्याकरण, कोश आदि सब प्रमाण मानना पड़ेगा। मूर्च्छा में यदि सुख-दुःख का अभाव होगा तो आत्मा पाषाणवत् (जड़) हो जाएगा।

[अन्त में, इस प्रकार व्याख्यान के पश्चात् हाथ जोड़कर बड़े आदरभाव से स्वामी जी महाराज की स्तुति तथा सभी का धन्यवाद कर श्री पण्डित जी मौन हुए, **''और ऐसे मौन हुए कि अब ऐसे शास्त्रार्थ और व्याख्यान स्वप्न हो गये।** इसके पश्चात् श्री स्वामी दर्शनानन्द जी का व्याख्यान प्रारम्भ हुआ, उसके आदि शब्द थे कि **''आर्य लोगों का शास्त्रों को न समझना यह साबित करता है कि आर्य लोग स्वाध्याय नहीं करते.....''** इत्यादि, यह एक सारस्वत महानद था कि अनेक युक्ति प्रमाणाख्यानों की तरंगों से समृद्ध वेग बह रहा था। डेढ़ घण्टा तक व्याख्यान देकर स्वामी जी रात्रि को ११ बजे की गाड़ी में रावलपिण्डी को चले गये, क्योंकि उनको गुरुकुल पोठोहार के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होना था।-लेखक] **- पं. रलाराम**